हिंदी समिति ग्रंथमाला—२३६

वेदत्रयी परिचय

[स्व० पं० सत्यव्रत सामश्रमि भट्टाचार्यके 'त्रयी परिचय' प्रबन्धके प्रथम भागका स्वतन्त्र हिन्दी अनुवाद]

●

रूपान्तर

डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय

(संस्कृत विभाग, सी० एस० एन० स्नातकोत्तर कालेज, हरदोई)

●

हिन्दी समिति

उत्तर प्रदेश शासन

'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन',

महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

वेदत्रयी परिचय

महाशिवरात्रि, २०३१ वि०

मूल्य : ५ रुपये

मुद्रक

शंभुनाथ वाजपेयी,

नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशकीय

भारतकी अलौकिक और दिव्य साहित्यिक सम्पदाके रूपमें वेदों का अपना महत्व अक्षुण्ण है। इनकी ऋचाओंमें जो ओज एवं तेजोमय सन्देश है, जो अलौकिक ज्ञान है, वह हमारी ऐसी निधि है, जिसपर हमें गर्व और गौरव है। इन्हीं वेदोंके सम्बन्धमें आवश्यक परिचय और ज्ञान देनेकी चेष्टा भारतके विश्व-विश्रुत विद्वान् श्री सत्यव्रत सामश्रमि जीने 'त्रयी परिचय' के नामसे देनेकी चेष्टा की है। यह ग्रन्थ अंग्रेजीमें उन्होंने लिखा था जो संप्रति दुष्प्राय है। इसी के प्रथम भाग का हिन्दी अनुवाद श्री ओम्प्रकाश पाण्डेयने प्रस्तुत किया है। समितिने ग्रन्थकी महत्ता और उपयोगिताको देखकर इसके प्रकाशनका निश्चय किया और यह विद्वज्जनों एवं जिज्ञासु पाठकोंके सामने प्रस्तुत है।

यह ग्रन्थ साधारण पाठकों और विद्यार्थियोंके लिए भी उपयोगी और ज्ञानवर्धक है। वेदोंके सम्बन्धमें आवश्यक परिज्ञान, उनके नामकी व्याख्या, ऋचाओंकी स्थिति, संख्या और विशदताका यथेष्ट परिचय इसमें उपलब्ध है। इसके अनुवादकने श्रम और निष्ठाके साथ इसका अनुवाद किया ही है, साथ ही ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारके सम्बन्धमें भी यथेष्ट विवरण अपने वक्तव्यमें देनेकी व्यवस्था की है। विषय-सूची देखकर ही ग्रन्थकी व्यापकता और महनीयताका अनुमान लगाया जा सकता है। अनुवाद सरल और सुबोध है, यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

हमें विश्वास है, समितिके अन्य प्रकाशनोंकी भाँति इस 'वेदत्रयी परिचय' का भी यथेष्ट स्वागत किया जायेगा और लुप्तप्राय ग्रन्थका इस रूपमें अभिनन्दन होगा।

लखनऊ,
महाशिवरात्रि, २०३१ वि०
(११ मार्च, १९७५)

काशीनाथ उपाध्याय 'अमर'
सचिव, हिन्दी समिति,
उत्तर प्रदेश शासन

प्रस्तावना

तैत्तिरीय ब्राह्मणके अनुसार महर्षि भरद्वाजने जब अपनी तीन अवस्थाएँ ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर वेदाध्ययनमें ही अर्पित कर दीं, तो उन जीर्ण और स्थविर मुनिसे इन्द्रने पूछा—'ऋषे ! यदि तुम्हें मैं चतुर्थ आयु और दे दूँ तो उसका कैसा उपयोग करोगे ?'

भरद्वाजने निवेदन किया—'ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययनमें ही उसे भी लगा दूँगा ।'

इसपर देवराजने उन्हें अविज्ञात वेदके तीन बड़े-बड़े पहाड़ दिखाये । उनमें प्रत्येकसे एक मुष्टि परिमाण अंश लेकर भरद्वाजको दिखाते हुये बोले—'वेदा वा एते; अनन्ता वै वेदाः ।'[1]

(ये वेद हैं; वेदराशि अनन्त है, भरद्वाज !)

यह घटना वेदकी इयत्ताका, परिमाण और स्वरूप दोनों ही दृष्टियोंसे, अभाव सूचित करती है । वेदके सम्बन्धमें मनीषियोंकी धारणाके सदैव अत्यन्त बहुमुखी आयाम रहे हैं । प्राचीनकालसे ही वेद-विरोधी सम्प्रदायोंके द्वारा उठायी गयी सन्देह-शङ्काओंके निवारण-हेतु जो निश्चित प्रयत्न किये गये, उनके सङ्केत निरुक्तमें प्राप्त होते हैं । कौत्सका अर्थाभाववाद यास्कने आरम्भमें ही पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत किया है । इसके अतिरिक्त गार्ग्य, शाकपूणि एवं औपमन्यव आदिके नैरुक्त और ऐतिहासिक पक्षकी ओर भी निरुक्तकारने विपुल इंगित किया है । मंत्रार्थ-सम्बन्धी इन चार सम्प्रदायोंका उल्लेख तो अतिप्राचीन है—(१) आधिदैविक, (२) आध्यात्मिक, (३) आधिभौतिक और (४) अधियज्ञीय ।[2]

अभिप्राय यह कि अधिकांश आचार्योंने वेदमंत्रोंकी व्याख्या प्रकृति, मनुष्य, प्राणि-समाज और यज्ञके दृष्टिकोणसे करनेकी चेष्टा की । सायणाचार्यने जहाँ यज्ञपर अधिक बल दिया, वहीं वाजसनेयि संहितापर भाष्य करते समय महीधरके अवचेतनमें तान्त्रिक मान्यताओंके प्रभाव निहित थे । आधुनिक युगमें मधुसूदन ओझाने वेदोंमें विज्ञान,

---

१. तै० ब्रा० ३.१०.११.३–४ ।

२. क्वचिच्चाध्यात्मिकाधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम् । तस्मादेतुषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्नधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः । नात्रापराधोऽस्ति ।—दुर्गाचार्य निरुक्त २.८ ।

महर्षि दयानन्दने अध्यात्म और सभी सत्यविद्याओं, सातवलेकरने राष्ट्रवाद तथा अरविन्द[1] और वासुदेवशरण अग्रवालने रहस्यात्मक अध्यात्मानुभूतियोंकी ओर विशेष दृष्टि केन्द्रित की।

यह तो हुई मन्त्रार्थकी बात; इसके अतिरिक्त वेदोंके स्वरूपसे सम्बद्ध प्रश्न भी दीर्घ-कालसे नाचिकेतस् वृत्तिवाले अध्येताओंके मनमें उमड़-घुमड़ रहे थे। वेद तीन हैं या चार? इनकी रचना कब हुई? रचयिता कौन है? इनकी विषयवस्तु और शिल्प-विषयक विवाद भी कम नहीं थे। अनेक प्रश्नों पर ब्राह्मण-कालसे ही विचार होना आरम्भ हो गया था। उदाहरणके लिए, अथर्ववेदके वेदत्व पर केवल आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंने ही शङ्का नहीं की, प्रत्युत गोपथ ब्राह्मणकारके मनमें भी कहीं यह सन्देह बैठा था कि हो सकता है, कालान्तरमें अथर्ववेदको वह प्रतिष्ठा न मिले, जो अन्य तीन वेदोंको प्राप्त है—इसीलिए निम्नलिखित आख्यायिका[2] के माध्यमसे अन्य तीन वेदोंकी अपेक्षा अथर्ववेदको उत्कृष्टतर सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है—'तान् वागभ्युवाच। अश्वः शम्येतेति। तथेति तमृग्वेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति। तस्मा अविसृष्टाय महद्भयं ससृजे। स एतां प्राचीं दिशं भेजे। स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति। तं यजुर्वेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति। तस्मा अविसृष्टाय महद्भयं ससृजे। सा एतां प्रतीचीं दिशं भेजे। स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति। तं सामवेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति। केन नु त्वं शमिष्यसीति। स्वन्तरं नाम मे सामावोरं चाक्रुं च तेनाश्वसमिष्टुतेति। तस्मा अथ विसृष्टाय तदेव महद्भयं ससृजे। स एतामुदीचीं दिशं भेजे। स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति।'

(वाणीने तीन वेदोंसे अश्व साधनेके लिए कहा। उन्होंने स्वीकार कर लिया। ऋग्वेद और यजुर्वेद अशान्त अश्वको वशमें करनेके लिए आगे बढ़े, किन्तु भयभीत होकर पीछे हट गये। अपने स्वन्तर साम (स्तुतिगीत) के द्वारा सामवेदने भी बहुत प्रयास किया, किन्तु वह भी सफल न हो सका। अश्व अब भी अशान्त था।)

और अन्तमें, अथर्ववेदके द्वारा ही वह अशान्त अश्व साधा जा सका!

ब्राह्मणों, आरण्यक-उपनिषदों और यास्कने वेदोंके स्वरूपसे सम्बद्ध प्रश्नोंके समाधान, पारिभाषिक शब्दोंकी परिभाषा और विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय करनेकी चेष्टा की है।

---

१. ... ...but behind them there is always the true and still hidden secret of the Veda the secret words (**नित्या वचांसि**) which were spoken for the purified in soull and the awakened in knowledge.

—On the Vedas, Page 7, (1964)

२. **गोपथ ब्राह्मण १.२.१८।**

अनादिता और अपौरुषेयत्व पर न केवल वैदिकोंने ही विचार किया, प्रत्युत सभी दर्शनोंने इन विषयोंमें अपने अभिमत व्यक्त किये।

वेदानुसन्धानके आधुनिक युगका प्रारम्भ मैं सायणाचार्यसे मानता हूँ। उनके वेद-भाष्यों और भूमिकाओंमें वैदिक अध्ययन, विवेचन और विश्लेषणकी नयी तकनीक पर प्रतिष्ठित दिखायी देता है। उन्होंने वेदके स्वरूपसे सम्बद्ध उन विषयों पर भी अपनी भाष्य-भूमिकाओंमें विचार किया है, जो उनसे पहले अनाहूत और अनावश्यक मान लिये गये थे। सायणके बाद महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' वैदिक भूमिकाओंमें मीलका दूसरा उल्लेखनीय पत्थर है जिसके विषयमें आगे विस्तारसे विचार किया जायेगा। वैदिक भूमिकाओंकी इसी परम्परामें स्व० पं० सत्यव्रत सामश्रमि भट्टाचार्य प्रणीत 'त्रयी परिचय' आती है, जिससे परिचित होनेका अवसर मुझे वैदिक खिल सूक्तों पर शोध करते समय मिला।

० ० ०

वेदके आधुनिक विद्वानोंमें सामश्रमि जी का महत्वपूर्ण स्थान है। उनका कार्य-काल १९वीं शतीका उत्तरार्द्ध और २०वीं शती का पूर्वार्द्ध रहा है जो अनेक दृष्टियोंसे बहुत उथल-पुथलका काल रहा है। वेदाध्ययनके प्रसंगमें तो इन सौ वर्षोंमें जितना काम हुआ है, उतना सायणके बादके वर्षोंमें पहले कभी नहीं हुआ। भारतमें, एक ओर जहाँ आर्यसमाजके प्रवर्तक महर्षि दयानन्दकी सक्रियता उल्लेखनीय है वहीं यूरोपमें मैक्समूलर, ह्विटनी और रॉथने अपने अपार श्रमसे, इस दिशामें, युगान्तर उपस्थित कर दिया। भारतीय साहित्य और संस्कृतिके इस पुनरुत्थान युगमें, प्राच्य और पाश्चात्य भाव-भूमियोंके सम्मिश्रणने वेदाध्ययनके नए क्षितिज अनावृत किये। तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र और भाषाविज्ञानकी तुलनात्मक पद्धतिने वैदिक अध्येताओंको विभिन्न विषयों पर नवीन दृष्टिसे विचार करनेके लिए बाध्य कर दिया। महर्षि दयानन्दने वेदानुशीलनकी जो मशाल उठायी थी, उसे उनके बाद सँभालनेवाला कोई न रहा। इसीके साथ यहाँ यह कह देना भी अप्रासङ्गिक न होगा कि देशी विद्वानोंकी निष्क्रियता और विदेशी वेदानुशीलियोंके नित्य नूतन अनुसन्धानोंकी चकाचौंधमें वेदका सामान्य विद्यार्थी इतना किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया कि उसकी प्रगति ही मन्द हो गयी। अनिश्चयके इसी तमस्में सत्यव्रत सामश्रमि सामने आये। बंगालकी एशियाटिक सोसायटीके माध्यमसे उन्होंने वैदिक ग्रन्थोंका सुन्दर, नवीन पाठ-संशोधन पद्धतिसे सम्पादन कर प्रकाशन कराया। सामवेदके सभी ग्रन्थों--साम-संहिता तथा गानसंहिता--के शुद्ध संस्करण प्रकाशित कराकर वेदप्रेमियोंको साम, गायन और सायणभाष्यका प्रामाणिक रूप उपलब्ध करानेका श्रेय सर्वप्रथम उन्हें ही मिलेगा। वे सामवेदके 'अथेति' विद्वान् थे। यदि उनके अन्य ग्रन्थ नष्ट हो जायें, तब भी

अकेले सामवेदके ये पाँच भाग उनकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये रखेंगे[1] । शतपथ ब्राह्मण आदि अन्य ग्रन्थोंका सम्पादन भी उन्होंने किया है । इस कार्यमें उन्हें अपने समसामयिकोंमें से किसीसे सहायता मिली है, तो वे हैं डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र । ग्रन्थोंके सुलभ संस्करणोंके अतिरिक्त 'ऐतरेयालोचन' और 'निरुक्तालोचन' प्रभृति वेदके स्वरूपका उद्घाटन करनेवाले उत्कृष्ट प्रबन्ध भी उन्होंने रचे । सामश्रमिजीके ग्रन्थोंमें श्रद्धा और तर्कके यथोचित सन्निवेशके कारण भारतीय पण्डितोंके सामने वैज्ञानिक दृष्टि प्रशस्त हुयी और यूरोपीय वेदानुरागी परम्पराके महत्त्व पर सहमत हुये । वेद-प्रचारके लिए सत्यव्रत सामश्रमिने केवल ग्रन्थोंका सम्पादन और लेखन ही नहीं किया, प्रत्युत क्षेत्रकार्यकी ओर भी उनका ध्यान गया । कलकत्तेमें जहाँ न्याय, साहित्य, अलङ्कार, स्मृति और दर्शनका अध्ययन तो होता था, किन्तु वेदाध्ययनकी परिपाटी न थी, उन्होंने 'चतुष्पाठी' (वैदिक विद्यालय) की स्थापना की । इस विद्यालयमें वे छात्रोंको सामगान सिखलानेके अतिरिक्त प्राचीन और नवीन पद्धतिसे वेदोंके अन्य पक्षोंका ज्ञान भी कराते थे । बंगालमें वेदोंके पुनरुत्थानकी दृष्टिसे इस पाठशालाके कार्यकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया जा सकता ।

सामाजिक जन-जागरणके मोर्चे पर भी यह महान् मनीषी असावधान नहीं रहा । १९वीं शतीके उत्तरार्द्धमें, बंगालमें अनेक सामाजिक कुरीतियाँ व्याप्त थीं । सती-प्रथा, वैधानिक रूपसे यद्यपि निषिद्ध घोषित कर दी गयी थी, फिर भी उसका पूर्ण उन्मूलन नहीं हो पाया था । आवश्यकता थी, इस विधानको धर्मशास्त्रके बलकी । वह कार्य किया सामश्रमिने । उन्होंने स्वयं अपनी परदादी, बुआ, ताईयों और परिवारकी अन्य महिलाओंको पतिकी चिताके साथ निर्ममतापूर्वक जलाये जाते हुये देखा था ।[2] उन्होंने बड़े दुःखी अन्तःकरणसे उल्लेख किया है कि महिलाओंको पतिके साथ जला देनेकी परम्पराके कारण अनेक शिशुओंको वात्सल्यसे वञ्चित होना पड़ा । और यह सब कुछ हुआ वेदके नाम पर । उन्होंने अपने लेखों और लघु पुस्तिकाओंके द्वारा इस प्रथा पर प्रमाण सहित

---

१. I should particularly mention the name of Pandit satyavrata samasrami whose Devanagari and Bengali editions of the Samaveda Samhita have saved me from many pitfalls of textual wilderness.

—बलदेव उपाध्याय : वेदभाष्य भूमिका संग्रह, Prefatory Note.

२. It was through the kind provisions of these texts that the living bodies of my great grand mother, of her daughter and my aunts and other relativos were burnt.

सबल प्रहार किया। वे बाल-विवाहके भी प्रबल विरोधी थे।[1] 'दि मैरिजेबुल एज आफ गर्ल्स' प्रभृति निबन्धोंमें उन्होंने इसका भी सप्रमाण खण्डन किया है।

० ० ०

अपनी चतुष्पाठीमें पढ़नेवाले वेद-विद्यार्थियों और बंगालके जनसाधारणको वेदके स्वरूपकी सामान्य जानकारी करानेके सदुद्देश्यसे सामश्रमिजीने 'त्रयी परिचय' का प्रणयन किया था, जैसा कि मूल ग्रन्थके प्राक्कथनमें उन्होंने सङ्केत किया है। बंगालमें, अधिकांश लोग कौथुम शाखाध्यायी सामवेदी-मूलके रहे हैं। उनके और अपने छात्रोंके निमित्त 'सामन्' मंत्रोंका 'साम-संग्रह' नामसे सङ्कलन तैयार करनेके अनन्तर उनका ध्यान 'त्रयी-परिचय' की ओर आकृष्ट हुआ था। 'त्रयी परिचय' चार भागोंमें विभक्त है—१. भूमिका, २. वैदिक अंशोंका चयन, ३. सायण-भाष्य और ४. अंग्रेजी अनुवाद।

प्रस्तुत अनुवाद केवल भूमिका भागका है, जिसमें सौसे अधिक विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। वेदविषयक अधिकांश महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका समाधान करनेकी चेष्टा की गयी है, तथापि सामश्रमिजीने विनम्रतापूर्वक वेदके आनन्त्य और अपनी सीमाओंकी ओर सङ्केत किया है।[2]

अपने विषय-बोध और अन्य विशेषताओंकी दृष्टिसे यह भूमिका सायण और दयानन्द, दोनोंकी ही भाष्य-भूमिकाओंको पार कर आगे बढ़ गयी है। सायणाचार्यकी भाष्य-भूमिकाएँ स्वसमकालीन बौद्धिक जिज्ञासाओंके शमनमें प्रचुर समर्थ थीं, किन्तु महर्षि

---

१. That the marriage of a maiden who has not attained her womanhood is opposed to the vedas, is evident from the marital mantras. That the burning of widows is opposed to the vedas is evident from the vedic text 'तदु ह न पुरायुषः स्वकीमा प्रेयात् and from the Puranic text 'ऋग्वेदवादात् साध्वी सा न भवेदात्मघातिनी।'

२. It is as well to Remark here, tdat no one should think that he has learnt every thing about the veda when he has gone through this Introduction; for, so far as I have understood the matter, it appears that the 'veda' means knowledge conveyed throngh vedic language and as there is no end to knowledge, the veda also is endless.

—त्रयी परिचय, प्रस्तावना, पृष्ठ ५।

दयानन्दकी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' २०वीं शताब्दीके वेदप्रेमियोंके बौद्धिक मर्म विन्दुओं-का यथावश्यक स्पर्श न कर पायी। सम्पूर्ण वैदिक साहित्यका परिचय प्राप्त करनेकी दृष्टि-से यह भूमिका अपनी उपयोगिता प्रमाणित नहीं कर पायी; हाँ, महर्षिके वेदविषयक दृष्टिकोणकी व्याख्या करनेमें यह अवश्य प्रचुर समर्थ है। अपने जीवनके अत्यन्त स्वल्प-कालमें; महर्षिको इतना अवसर ही नहीं मिला कि वे समग्र वैदिक वाङ्मयको एक विस्तृत पटल पर उपस्थित कर पाते। उनके अधिकांश श्रमका विनियोग अपनी उपस्थापनाओं, प्रतिमानों और मान्यताओंको स्पष्ट करनेके अतिरिक्त वेदानुशीलनके क्षेत्रमें व्याप्त पुरातन और समकालिक रूढ़ियोंके निराकरणमें हुआ। 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में वेदोत्पत्ति, नित्यत्व, विषय, विज्ञानकाण्ड, यज्ञकाण्ड, देवता, नाम, ब्रह्मविद्या, वेदोक्तधर्म, सृष्टि विद्या, धारणाकर्षणविषय, प्रकाश्यप्रकाशक विषय, गणितविद्या, उपासना, नौवि-मानादिविद्या, तारविद्या (टेलिग्राफी) आयुर्विज्ञान, पुनर्जन्म, विवाह, नियोग, राजा-प्रजा-धर्म, वर्णाश्रम, पञ्चमहायज्ञ, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य, उत्तमनिकृष्ट-ग्रन्थगणना, विभिन्न आख्यानों, मूर्तिपूजा, पठन-पाठन, महीधरके मंत्र-भाष्यका खण्डन, प्रतिज्ञा, प्रयोग और स्वरव्यवस्था पर विचार किया गया है। अन्त में वैदिक व्याकरणके कुछ नियमोंका उल्लेख भी किया गया है। निरुक्तकारने वेद मंत्रोंके साहित्यिक सौन्दर्यके उद्घाटनकी जिस परम्पराका सूत्रपात् किया था, कालान्तरमें वह अविच्छिन्न न रह सकी। यास्कने उपमाके कुछ भेदोंका निरूपण निदर्शन हेतु किया था, किन्तु यास्कके उत्तरवर्ती वैदिक पण्डितोंने काव्यात्मक पक्षकी बिल्कुल उपेक्षा ही कर दी। सायणाचार्यने भी वेदके इस पक्षको अपनी भूमिकाओं और भाष्योंमें स्थान नहीं दिया; किन्तु दयानन्द सरस्वतीने अपनी भूमिकामें अलङ्कारोंका भी वर्णन किया।

महर्षिने वेदोत्पत्तिके दैवी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है।[1] उन्होंने वेद-रचनाका काल एक अरब छानबे करोड़ आठ लाख तिरपन हजार चौहत्तर (संवत् २०३१ की गणनानुसार) वर्ष माना है।[2] वास्तवमें, महर्षिका इसमें दोष नहीं। राज्य, समाज और भाषाकी उत्पत्तिकी विवेचना उस युगमें वैज्ञानिक आधार पा ही नहीं सकी थी। वेदकी उत्पत्ति और कालपर, उस युगमें, भूगर्भशास्त्र, पुरातत्त्व, मानवविज्ञान और भाषाविज्ञान-की अर्हताओंके परिप्रेक्ष्यमें विचार करना सम्भव ही नहीं था। एक युगकी वस्तु दूसरेमें स्वभावतः अमान्य हो जाती है और विशेष रूपसे संक्रमणकालीन स्थापनाएँ तो नितान्त

---

१. यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति। कुतः। वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः॥— ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ११, संवत् १९७० का संस्करण।

२. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, पृष्ठ २१।

सापेक्ष होती हैं। स्वामीजीने वेदके नित्यत्वका प्रतिपादन इस तर्कके बलपर किया है—वेद ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वरकी सारी सामर्थ्य नित्य ही है।[1] इसी प्रकारसे वेदताविषयक[2] तथा ब्राह्मणोंको वेद न माननेे[3] के सन्दर्भमें भी उनके मतोंको उद्धृत किया जा सकता है। महर्षिके दैवी सिद्धान्तका सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे विचार-परम्परा प्रशस्त नहीं होती। संसारकी सभी चीजें भगवान्‌ने बना डालीं—फिर हमारे सोचनेके लिए क्या रह जायेगा? इसीलिए सम्प्रति राजनीति-विज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि सभी क्षेत्रोंमें इसे कोई मान्यता नहीं दी जाती। आजका बौद्धिक मानव वेदके विषयमें इन ऊलजुलूल और तर्कविहीन बातोंको नहीं सुनना चाहता। वह सप्रमाण और सतर्क विचार-सरणिका पक्षपाती है। वेदोंकी अनादिता और अपौरुषेयत्वकी मध्ययुगीन व्याख्या आजके वेदानुशीलीके मस्तिष्कमें उठ रही शङ्काओंका समाधान करनेमें असमर्थ सिद्ध हो चुकी है। उदाहरणके लिए कुछ प्रश्न ये हो सकते हैं:

(१) क्या वेदके सभी मंत्र एक ही समयमें रचे गये हैं? यदि ऐसा है, तो उनमें शिल्प और रूपगत अन्तर क्यों है?

(२) क्या वेदका परम्परागत 'त्रयी' नाम इस बातका द्योतक नहीं है कि प्राचीन वेद तीन ही हैं; अथर्ववेद परवर्ती है।

(३) ऋग्वेदके द्वितीय और दशम मण्डलकी भाषा परस्पर बहुत भिन्न है। भाषा प्रारम्भिक मण्डलोंसे विकास करती गयी है—इस आधारपर दशम मण्डलको आधुनिक क्यों न मान लिया जाये?

सामश्रमिजीने इन प्रश्नोंका ऐतिहासिक आधारपर तर्कसंगत विश्लेषण किया है। इस विवेचनकी उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि इसके मूलमें भी आधार-सामग्री वही थी—निरुक्त, प्रातिशाख्य और पाणिनीय व्याकरण; किन्तु इन सबकी उक्तियोंका परीक्षणात्मक प्रयोग सर्वथा नवीन है। निदर्शनके लिए वेदकी उत्पत्ति और कालके सन्दर्भमें उनका अभिमत है—

---

१. ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्।—ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, पृष्ठ २७।

२. अत्र देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम्। गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते। यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थ प्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोग्निदेवतो गृह्यते।—वही, पृष्ठ ६०।

३. न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वान्मनुष्यबुद्धि रचितत्त्वाच्चेति।—वही, पृष्ठ ८०।

'एष हि वेदश्चिरमेव श्रूयते गुरुपरम्परानुसारेण, न केनापि कदाचिदपि एकस्यापि मन्त्रस्य प्रणयनकालनिर्णये कथमपि समर्थः; अतएव वाय्वादिवद् अनादिरपौरुषेयश्चेति स्तूयतेऽयमिति वृद्धाः।'[1]

'त्रयी-परिचय'-कारने भी यहाँ अनादिता और अपौरुषेयताका ही आश्रय लिया है किन्तु उसके तर्कमें बल है; वेदोंकी रचनाके कालका जब तक कोई आदि छोर नहीं मिल जाता, तब तक वेदोंको अनादि कहना बौद्धिक ईमानदारी ही है। अपने पाठकोंके सामने वह कोई वञ्चिका नहीं देता। अपनी सीमा, संसाधनों और स्रोतोंकी परिमितिका उसे बोध है—इसलिए शोधकी दिशामें प्रयत्नशील रहते हुये भी वह किसी 'सूडो' धारणाका उल्लेख करके नवीनताका व्यामोह नहीं उत्पन्न करता। 'अनादिता' कहनेके पीछे श्रद्धाति-रेक नहीं, व्यावहारिक दृष्टि है।

यही बात वेद-संहिताओंके पौर्वापर्यके विषयमें भी है। सत्यव्रत सामश्रमिजी भी यह मानते हैं कि सभी मंत्रोंकी रचना एक ही साथ नहीं हो गयी, उनमें पौर्वापर्य है किन्तु इतना नहीं कि उसके आधारपर प्राचीनता और अर्वाचीनताका 'फ़तवा' दे दिया जाये—

'अथासु च पञ्चसु वेदसंहितासु बहुधैव पौर्वापर्यं केचिदाहुरन्यदेशीयाः। तथाहि—'ऋक्संहितायाः सर्वत एव प्राथम्यम्; तत्रापि द्वितीय मण्डलस्यापेक्षिक नूतनत्वम्, दशम-मण्डलस्य तु ऋक्संहितापरिशिष्टरूपत्वञ्च। सामसंहितायास्तु तत एवोद्धृतार्चिक-मूलकत्वम्; शुक्लयजुः संहितायाः तदपेक्षयाप्यर्वाचीनत्वम्; अथर्वसंहितायास्तु सर्ववेद परिशिष्टत्वेन ततोऽप्यर्वाचीनत्वम्—' इति। परन्तु नाऽस्माकं बुद्धिः प्रसरति। एकस्मिन्नेव हि काले, एकस्यैवाचार्यस्य एकेनैव च चयनयन्त्रेण चतुष्टयमापन्नां पौर्वापर्यं कथङ्कारं स्यादिति; अस्तु मंत्राणामुत्पत्तौ कालपौर्वापर्यम्, नत्वेककालोत्पन्नास्ते इति सत्यमेव परं न हि तेन संहितानां प्राचीनत्वार्वाचीनत्वविचारः कथमपि सङ्कुच्यते[2]।'

इसी प्रकारसे वेदशाखाओंके विषयमें भी बड़ी भ्रान्ति व्याप्त है। चरणव्यूह और सायणाचार्यके वक्तव्योंसे इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वेदशाखाओंके विषयमें सामश्रमिका यह स्पष्टीकरण जिज्ञासुको एक निर्भ्रान्त दृष्टि देता है—

'वेदशाखाभेदो न मन्त्राद्यध्यायभेदतुल्यः, प्रत्युत भिन्नकान्तिखिलानां भिन्नदेशीयानां एकग्रन्थानामपि बहुतरादर्शपुस्तकानां यथा भवत्येव पाठादिभेदः प्रायस्तथैव[3]।'

सामश्रमिजीके निष्कर्षोंसे सहमत या असहमत होना एक भिन्न बात है; इन पंक्तियोंके लेखकका भी कई स्थलों पर उनसे मतभेद है किन्तु इस पर भी यह निःसङ्कोच कहा जा सकता

---

१. त्रयी-परिचय, पृ० ७।

२. वही, पृष्ठ ४४।

३. वही, पृष्ठ ४२।

है कि 'त्रयी-परिचय' का विश्लेषण पूर्वाग्रहविमुक्त और सर्वथा नये बौद्धिक बोधपर प्रतिष्ठित है।

आवश्यकतानुसार मूल लेखकने सायणाचार्य की भाष्य-भूमिकाएँ भी उद्धृत की हैं। इस प्रसंगमें यह ज्ञातव्य है कि सायणीय भाष्य-भूमिकाओंके संपादकोंने प्रायः उनकी संहिता-भूमिकाओंको ही अपने संस्करणोंमें स्थान दिया है[1], किन्तु सामश्रमिजीने अपने ग्रन्थमें सायणकी ब्राह्मणों और आरण्यकोंकी भाष्य-भूमिकाओंके उपयोगी अंशोंको भी उद्धृत किया है। इतना ही नहीं, विवादग्रस्त स्थलों पर सायणके निष्कर्षोंका तथ्यपरक परीक्षण भी किया है।

० ० ०

'त्रयी परिचय' के भूमिका-भागको हिन्दीमें प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। मूल नाम का 'त्रयी' शब्द अत्यन्त स्पष्ट नहीं है; इससे देवत्रयीका भी भ्रम होता है—अतः उससे पहले 'वेद' शब्दको जोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ। 'त्रयी परिचय' की संस्कृत भी स्पृहणीय है। अनुवादकी यह चेष्टा रही है कि उस पर यथासम्भव आघात न हो; फिर भी संस्कृत और हिन्दीके वाक्य-विन्यासमें रूपगत अन्तर है। हमारा प्रयत्न यही रहा है कि मूल और अनुवादमें एक तारतम्य बना रहे। प्रबन्धके आधुनिक विधानके अनुसार पहले सभी उद्धरणोंको पादटिप्पणीके रूपमें देनेका विचार था, किन्तु मौलिकता बनाये रखनेके लिए इस विचारका परिहार करना पड़ा। संदर्भकी दृष्टिसे हमने सामश्रमिजीका ही अनुकरण किया है। उन्होंने यथावश्यक दोनों ही सन्दर्भ दिये हैं: ऋग्वेदके अष्टक और अध्यायका तथा मंडल, अनुवाक् और सूक्तका। अधिकांश भारतीय पण्डितोंने अष्टकोंके क्रमको विशेष आदर दिया है—यों सम्प्रति प्रायः मण्डलोंका ही सन्दर्भ दिया जाता है। इस दृष्टिसे हमने मूल लेखककी इच्छाको ही वरीयता दी है।

मैं इस पुस्तकके प्रकाशनके लिए हिन्दी समिति तथा इसके सचिव श्रीयुत् 'भ्रमरजी' का आभारी हूँ। आदरणीय गुरु डॉ० मातृदत्त त्रिवेदीके प्रति भी, उनके उपयोगी सुझावोंके लिए मैं कृतज्ञतापूर्वक विनत हूँ।

इदं न ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

—ओमप्रकाश पाण्डेय

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'वेदभाष्यभूमिका-संग्रह'।

विषय-सूची

विषय				पृ० सं०
१. 'त्रयी चतुष्टय' का अभिप्राय	..	..		१
२. 'वेद'-लक्षण	..	..	..	२
३. 'वेद'-नाम-विचार	..	..	..	४
४. 'श्रुति' की सार्थकता	..	..	..	७
५. 'आम्नाय' और 'समाम्नाय' नामोंका विचार			..	९
६. 'छन्द' नामकी प्राचीनता	..	..		१३
७. 'स्वाध्याय'-चिन्तन	..	..	..	१७
८. 'आगम'-अभिप्राय	..	..	..	१७
९. 'निगम' का तात्पर्य	..	..	..	१८
१०. 'त्रयी' विषयक पाश्चात्य विचार		..	..	२१
११. अथर्ववेदकी सर्वसमकालीनता		..	..	२४
१२. ऋगादि नामोंके मूल हेतु		..	..	२८
१३. मंत्रका क्षलण	..	..	..	२९
१४. मंत्रके भेद	..	..	..	३०
१५. शाखाओंमें पाठ-भेदके कारण		..	..	३२
१६. वैदिक शाखाओंकी संख्या		..	..	३२
१७. एक वेदकी अनेक शाखाओंकी एक संहिता			..	३५
१८. शाखागत अन्तरका स्वरूप		..	..	३५
१९. संहिताओंमें पौर्वापर्य-विचार		..	..	३६
२०. द्वितीय मण्डल अर्वाचीन नहीं		..	..	४०
२१. दशम मण्डल-विषयक विचार		..	..	४१
२२. सामवेदकी ऋचाएँ उद्धृत नहीं		..	..	४३
२३. ब्राह्मण-विचार	..	..	..	४५

२४. ब्राह्मणोंकी मंत्र-व्याख्यानपरकता ४९
२५. आरण्यक-विचार ५३
२६. आरण्यकोंका त्रयीत्व ५४
२७. उपनिषद्-विचार ५५
२८. पाणिनि उपनिषदोंसे परिचित थे ५५
२९. वेदोत्पत्ति काल-विचार—मीमांसक मत, वेदान्तियोंका मत; ब्राह्मणादिमें वर्णित श्रुति-सृष्टि तत्त्व; वेदोत्पत्तिविषयक यास्क-मत; वैशेषिकादि मत। ५७
३०. ऋषियों द्वारा वेदका साक्षात्कार ६०
३१. मंत्र-रचनाकालकी अनिर्णेयता ६१
३२. ब्राह्मणोंका भी काल-निर्णय असंभव है .. ६३
३३. शतपथकी भी वही स्थिति ६५
३४. वेदार्थबोधके उपाय ६९
३५. सायणकृत ऋग्भाष्य-भूमिका— ६९–७४
(क) वेदके विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी
(ख) परा और अपरा विद्याएँ
(ग) षडङ्गवेदपरिचय
(घ) ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग
३६. ऐतरेय प्रथमारण्यक के सायण-भाष्यसे— .. ७४–७५
(क) आरण्यक-परिचय
३७. ऐतरेय तृतीयारण्यकके सायण-भाष्यसे— .. ७५
(क) त्रिविध विद्याधिकारी
३८. ऐतरेय चतुर्थारण्यकके सायण-भाष्यसे— .. ७५
(क) चतुर्थारण्यक-परिचय
३९. ऐतरेय पञ्चमारण्यकके सायण-भाष्यसे— .. ७६–७७
(क) पञ्चमारण्यकका सूत्रत्व
४०. तैत्तिरीयब्राह्मणकी भाष्य-भूमिकासे— .. ७७–७८
(क) तैत्तिरीय ब्राह्मणका मंगलाचरण
४१. तैत्तिरीय आरण्यकके भाष्यसे— ७८–८०
(क) तैत्तिरीय आरण्यकका परिचय
(ख) कर्मकाण्डकी इयत्ता
(ग) याज्ञिकी उपनिषद्का खिलत्व

'२. सामवेदके पूर्वार्चिककी भाष्य-भूमिकासे;— .. ८०–८८

(क) होता आदिके द्वारा त्रयी-व्यवहार
(ख) 'रथन्तर' शब्दका अर्थ-निर्णय . .
(ग) 'साम' शब्दकी गानवाचकता . .
(घ) सामनिष्पादक-परिचय
(च) गीति-हेतु-विचार
(छ) स्तोभ आदिके लक्षण
(ज) वर्णलोप-परिचय
(झ) 'इरा' प्रभृतिकी अगेयता
(ञ) 'योनि' और 'ऊह'का परिचय
(ट) ऊहकी पौरुषेयता
(ठ) ऋग्व्याख्यानसे ही साम-व्याख्या
(ड) मन्त्रोंकी अर्थानुस्मारकता
(ढ) ब्राह्मण मंत्रार्थके अनुवादक हैं
(ण) साम-विनियोगके अन्वेषणमें विशेष प्रयासकी अनावश्यकता

४३. ताण्ड्यमहाब्राह्मणकी भाष्य-भूमिकासे— .. ८९–९३

(क) ताण्ड्यमहाब्राह्मणका परिचय
(ख) प्रथम-तृतीयाध्यायगत विष्टुतियोंकी ऋत्वङ्गता
(ग) पर्णन्याय
(घ) प्रकृति-विकृतिके लक्षण
(ङ) मूलप्रकृति-विचार
(च) भावनाके कारणादिका ज्ञान
(छ) १६ ऋत्विकोंका परिचय
(ज) सोमप्रवाक्का परिचय
(झ) प्रस्तोता प्रभृतिके वरणकी अनियमितता
(ञ) मन्त्रोंकी इयत्ताके निश्चायक संकेत

४४. ताण्ड्यमहाब्राह्मणके चतुर्थ प्रपाठककी भाष्य-भूमिकासे— .. ९३–९६

(क) गवामयनके दिनोंका परिचय
(ख) सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्रकी अनुष्ठान-विधि

४५. षड्विंश ब्राह्मणकी भाष्य-भूमिका ९६
(क) षड्विंश ब्राह्मणकी अनुक्रमणी
४६. सामविधान ब्राह्मणकी भाष्य-भूमिका.. .. ९६–९७
(क) सामविधान ब्राह्मणका परिचय
४७. आर्षेय ब्राह्मणकी भाष्य-भूमिका ९७
(क) आर्षेय ब्राह्मणका परिचय
४८. देवताध्याय ब्राह्मणकी भाष्य-भूमिका.. .. ९७
(क) देवताध्याय ब्राह्मणका परिचय
४९. मंत्रब्राह्मणकी मेरी भाष्य-भूमिका—.. .. ९८–९९
(क) मंत्र ब्राह्मणका परिचय
(ख) मंत्र ब्राह्मणके षष्ठत्वका विचार
(ग) अद्भुत ब्राह्मणका खिलत्व
५०. वैदिक छन्दो-चक्र ९९–१०४
(क) वेदार्थकी अतिदुर्ज्ञेयता
(ख) 'संहितोपनिषद्'-भाष्य प्राप्य नहीं
(ग) 'वंशब्राह्मण'-विचार
५१. अथर्व संहिताके सायण-भाष्यसे— १०४–१०८
(क) अथर्ववेदकी शाखाएँ
(ख) अथर्ववेदके कल्पसूत्र
(ग) कौशिक सूत्रकी विषय-वस्तु
(घ) नक्षत्रकल्पोक्त कर्म
(ङ) आङ्गिरस कल्पोक्त कर्म
(च) शान्तिकल्पमें वर्णित कर्म
(छ) अथर्वपरिशिष्टमें प्रतिपादित अनुष्ठान-विधियाँ

卐

वेदत्रयी परिचय

वेदत्रयी परिचय

'त्रयीचतुष्टय' का अभिप्राय

'शतपथ ब्राह्मण'[1] में कहा गया है—'**त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि**'—मन्त्रों के तीन विद्या तीन प्रकारकी है, ऋक्, यजुष् तथा सामन् । रचनाकी त्रिविधता ही होने का मूल कारण है । पहले पद्यरचना ऋचाके नामसे प्रसिद्ध थी; गानमयी रचना साम तथा गद्यात्मक रचना यजुष् । चूँकि गद्य, पद्य और गानके अतिरिक्त अन्य दूसरे प्रकारकी रचना नहीं होती, इसलिए ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता या अथर्ववेदकी संहिताओंमें ऋक्, यजुष् और सामके अतिरिक्त दूसरी किसी विधामें कोई मंत्र नहीं दिखायी देता । पद्य, गद्य और गानके अतिरिक्त अन्य रचना कभी भी नहीं रची गयी, आज भी नहीं लिखी जाती; फिर ऋक्, यजुष् और साम-लक्षणोंसे भिन्न रचना वैदिक कैसे होती ? इसीलिए महर्षि जैमिनि[2] का कथन है—

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुः शब्दः ।'

'न्यायमालाविस्तर' में माधवाचार्यने इसकी सविस्तार व्याख्या की है । यह 'त्रयी' नाम मन्त्र-रचना तक ही नियमित है, अतः मन्त्र-भाग ही मूलतः 'त्रयी' के रूपमें मान्य है, न कि ब्राह्मण-भाग । यह श्रुति भी इसका समर्थन करती प्रतीत होती है—

'अग्ने बुध्नीय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः ।'

तथा

'ऋचः सामानि यजूंषि ।'[3]

'अधिकरणमाला' के प्रणेता माधवाचार्यने इन वचनोंकी व्याख्या इस प्रकारसे की है—'त्रिविद्' का तात्पर्य है—तीन वेदोंके ज्ञाता । त्रिविदोंके सम्बन्धमें अध्ययन करनेवाले त्रैविद् कहलाये । उन त्रिविदोंने जिस मन्त्रभागको ऋगादि भेदोंसे त्रिविध कहा, उसकी रक्षा करनी चाहिए ।

---

१. शत० ब्रा० ४.६.७.१ ।

२. मी० द० २.१.३२–३४ ।

३. तै० ब्रा० १.२.१.२६ ।

संज्ञा प्रयोग पर निर्भर होती है और ब्राह्मणभाग मूलतः श्रुतिका अनुगमन ही करता है, अतः वह भी व्यावहारिक दृष्टिसे 'त्रयी' के रूपमें मान्य है—किन्तु, इस पर भी, वास्तवमें मन्त्रभाग ही प्रमुखतया वेद, श्रुति, समाम्नाय और त्रयी समझा जाता है; ब्राह्मणभाग गौण रूपसे ही 'त्रयी' नामका अधिकारी है।

'त्रयी' और 'वेद' शब्दोंके अर्थ अभिन्न हैं। 'ऋक् प्रातिशाख्य'—वृत्तिके आरम्भ में, देवमित्रके पुत्र विष्णुमित्रने 'वेद' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिः धर्म्मादि पुरुषार्था इति वेदाः।'

—वेदोंसे धर्मादि पुरुषार्थोंकी सत्ताका परिचय मिलता है, उनकी उपलब्धि होती है, ज्ञान प्राप्त होता है—इसीलिए वे वेद हैं। अन्य प्रकारसे भी 'वेद' शब्दके निर्वचन किए गए हैं, उन्हें यथास्थान ही देखना चाहिए।

'वेद'-लक्षण—

सायणाचार्यने अपने ऋगादि भाष्योंमें 'वेद' के लक्षण इस प्रकारसे दिए हैं—

'प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणेषु अन्तिमो वेदः।'

—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोंमें वेद अन्तिम अर्थात् आप्त प्रमाण है।

'समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभव साधनं वेदः।'

—सङ्केत-बलसे भलीभाँति परोक्षकी अनुभूति जिस साधनसे होती है, वह वेद है।

'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'

—अपौरुषेय वाक्य वेद है।

कृष्ण यजुर्वेद की भाष्यभूमिकामें सायणाचार्यका कथन है कि इष्टकी प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके अलौकिक उपायका ज्ञान जिससे होता है, वह ग्रन्थ वेद है—

'इष्टप्राप्त्यअनिष्टपरिहारयोः अलौकिकम् उपायम् यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।'

वहीं उन्होंने यह श्लोक भी कहींसे उद्धृत किया है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥'

—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे जिस (अलौकिक) उपायका बोध नहीं होता, वह वेदके द्वारा जाना जाता है—यही वेदका वेदत्व है। इसके बाद उनका कथन है—

'स एवोपायः वेदस्य विषयः, तद्बोधार्थी चाधिकारी; तेन सह उपकार्योपकारक भावश्च सम्बन्धः।'

—वही उपाय वेदका विषय है; उपाय-जिज्ञासु ही अधिकारी है; उसके साथ उपकार्य और उपकारक भाव ही सम्बन्ध है।

महर्षि आपस्तम्बने 'यज्ञ परिभाषा' में वेदके स्वरूपपर विचार करते हुए कहा है—
'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।'

—मन्त्र और ब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद है ।

'सर्वानुक्रमणी' की वृत्ति-भूमिकामें आचार्य षड्गुरुशिष्यने भी इसी विचारको श्लोकबद्ध किया है—

'मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।
विनियोक्तव्यरूपो यः स मंत्र इति चक्षते ।।
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि ।
विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।।
ऋग्यजुष्सामरूपेण मंत्रो वेदचतुष्टये ।
अहे बुध्नीय मन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते ।।
ऋक् पादबद्धो, गीतस्तु साम, गद्यं यजुर्मन्त्रः ।
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ।।
वेदैरशून्य इत्यादौ मन्त्रे त्रैविध्यमुच्यते ।
सर्वैर्ब्रह्मेति (य०प० २२) सूत्रेऽवि चतुर्भिरिति निर्णयः ।।
प्रस्तुतर्कादि वाचित्वो वा मंत्रे सूत्रकारणे ।
ऋग्रूप मंत्रबाहुल्यादृग्वेदः स्यात् तथेतरौ ।।
शान्तिपुष्ट्यादिकब्रह्मवर्ग प्रणवविद्यया ।
ऋचाञ्च यजुषां तुर्य्यो बाहुल्येन विधायकः ।।'

[महर्षियोंने मंत्र और ब्राह्मणको ही वेद कहा है । (कर्मोंमें) जिसका विनियोग किया जाय, वह मंत्र है । शेषांश, जो यज्ञ-विधि और अर्थवाद-परक है, ब्राह्मण है । विनियोज्य मंत्र तीन प्रकारके हैं—वे वेदचतुष्टयीमें ऋक्, यजुष् और सामन्, इसी रूपमें प्राप्त होते हैं । **'अहे बुध्नीय मन्त्रं मे'** में उन्हींका उल्लेख किया गया है । पादबद्ध मन्त्र ऋक्, गीतात्मक साम और गद्यात्मक मन्त्र यजुष् हैं । चारों वेदोंमें इन्हीं तीन प्रकारके मंत्रोंका विनियोग किया गया है । **'वेदैरशून्य'** इत्यादिमें मंत्रोंकी त्रिविधता बतायी गई है । 'यज्ञ परिभाषा' (२२) गत **'सर्वैर्ब्रह्मेति'** सूत्रमें भी 'चारोंसे' कहकर यही निर्णय दिया गया है । प्रस्तुत ऋक्, यजुष् और सामन्का वाचक है **'त्वो वा मन्त्र'**—और वही सूत्रका मूल है । ऋचात्मक मंत्रोंकी बहुलताके कारण ऋग्वेद सम्पन्न हुआ, इसी प्रकारसे अन्य दो भी । अथर्ववेदमें शान्ति, पुष्टि आदि कर्मों, ब्रह्मवर्गके विषयों तथा प्रणव-विद्याका प्रतिपादन हुआ है । उसमें अधिकता ऋचाओं और यजुषोंकी है ।]

ऊपर सभी वेदोंके स्वरूपका विवेचन (एक अधिकारी) विद्वान्के द्वारा हुआ है, अतः हमें यहाँ कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं।

'वेद' नाम-विचार—

विचारणीय विषय यह है कि आपस्तम्ब आदि ऋषियोंके अनुयायी सायणाचार्य सदृश मनीषी मन्त्र और ब्राह्मण, दोनोंको ही चिरकालसे सिद्ध वेद मानते हैं किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानोंका मत है कि पहले केवल ब्राह्मण ग्रन्थोंको ही वेद माना जाता था, बादमें मंत्रोंके लिए भी इस नामका प्रचलन प्रारम्भ हो गया; क्योंकि 'य एवं वेद' सदृश वाक्य ब्राह्मणग्रन्थोंमें ही दिखायी देते हैं।

हमारा विचार उपर्युक्त दोनों मतोंके विपरीत है—पहले 'वेद' शब्द 'विद्या' का ही पर्याय था, किन्तु सभी विद्याओंके मन्त्रगत होनेके कारण मन्त्रकालमें ही 'वेद' त्रिविध मंत्रोंका वाचक बन गया। ब्राह्मणकालमें, ब्राह्मणग्रन्थोंमें 'वेद' शब्दका व्यवहार केवल मन्त्रपरक ही हुआ है। सूत्रकालमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही विद्यानिधि होनेके कारण अत्यन्त आदरणीय थे, इसलिए इन दोनोंके लिए 'वेद' शब्दका प्रयोग होने लगा।

इस प्रकारसे यहाँ तीन पक्ष हैं—

१. मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं।

२. ब्राह्मणग्रन्थ ही प्रमुख रूपसे वेद हैं।

३. केवल मंत्र ही मुख्यरूपसे वेद हैं, क्योंकि उन्हींमें समग्र ज्ञानराशि निहित है। यह पक्ष सर्वाधिक प्राचीन है।

इन तीनोंमें कौन-सा पक्ष सर्वाधिक उपयुक्त है? इसका निर्णय तटस्थ बुद्धिसे ही करना उचित है।

कहा जाता है कि शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखामें आया 'वेद' शब्द मंत्रपरक ही है—**'वेदेन रूपे व्यपिबत सुतासुतौ प्रजापतिः'**[1]। महीधरने इसकी व्याख्या यों की है—प्रजापतिने अभिषुत सोम और टपकते हुए दुग्धको वेद (ज्ञान) अथवा त्रयीविद्याके द्वारा अलग-अलग कर पान किया। यहाँ वेद शब्दके दो अर्थ हैं—ज्ञान और त्रयीविद्या। हमारी दृष्टिमें दूसरा अर्थ ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि मूलपाठमें 'वेद' शब्द आद्युदात्त है। उञ्छादिगण[2] में पठित 'वेद' शब्द अन्तोदात्त है; यौगिक है। वृषादिगण[3] में यही

---

१. शु० यजु० सं० १७.७९।

२. पा० सू० ६.१.१६०।

३. पा० सू० ६.१.१.२०३।

शब्द आद्युदात्त तथा रूढ़ है, वहाँ यह 'त्रयी' के अर्थमें ही आया है। ऋग्वेदके **'यः समिधा'**[1] . . . मंत्रकी व्याख्या करते हुए सायणाचार्यने **'वेदेन'** पदका अर्थ बताया है—**'वेदाध्ययनेन'**—वेदाध्ययनके द्वारा। 'तैत्तिरीय संहिता'[2] में भी त्रयीपरक 'वेद' शब्द आद्युदात्त ही है। 'अथर्ववेद' में भी त्रयीपरक वेद शब्दका उल्लेख अनेक बार हुआ है; जैसे : **'यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनोदनेनातितरेणातिमृत्युम्'**[3]— यहाँ स्पष्ट ही 'वेदाः' का अर्थ ऋग्वेदादि है। इसी वेदके १९वें काण्डमें भी यह शब्द इसी अर्थमें तीन बार आया है।

ब्राह्मणोंमें भी सर्वत्र त्रयीपरक 'वेद' शब्दका उल्लेख हुआ है। ऋग्वेदके एक ब्राह्मण में—**'त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्; तान् वेदानभ्यपतत्'**।[4]

—तीनों वेद उत्पन्न हुए। ऋग्वेद अग्निसे उत्पन्न हुआ; यजुर्वेद वायुसे और सामवेद आदित्यसे।

अन्य स्थानों[5] पर भी ऐसे ही उल्लेख हुए हैं। जैसे 'छान्दोग्य ब्राह्मण'[6] में—**'स होवाच—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्।'**
'गोपथ ब्राह्मण'[7] में—**'इमे सर्वे वेदाः।'**

इस प्रकारसे सभी ब्राह्मणोंमें त्रयीपरक 'वेद' शब्दका प्रयोग हुआ है।

कहा जा सकता है कि सभी संहिताओंमें त्रयीपरक 'वेद' शब्दके प्रयोगसे यह प्रमाणित होता है कि मंत्र-कालमें केवल मंत्रोंके लिए ही 'वेद' शब्द प्रचलित था। तब तक मंत्र-व्याख्यानपरक ब्राह्मणग्रन्थोंकी रचना नहीं हुई थी। ऊपर उद्धृत ब्राह्मण-वाक्य इसी निष्कर्षकी पुष्टि करते हैं; 'ऋक्' इत्यादि शब्द मुख्यरूपसे मंत्रोंकी ओर ही सङ्केत करते हैं। अतः 'गोपथ ब्राह्मण'-गत **'इमे सर्वे वेदाः'** आदि वचन यथार्थ ही हैं; हाँ, उनके साथ **'सब्राह्मणाः'** विशेषण अवश्य लग जाता है। 'निरुक्त'[8] में अर्थज्ञ की प्रशंसा के लिए यास्क ने जो शाखान्तरीय मंत्र उद्धृत किए हैं, उनमें आया आद्युदात्त 'वेद' शब्द त्रयीपरक

---

१. ऋ० सं० ६.१.५।
२. तै० सं० ७.५.११.२।
३. अथ० सं० ४.७.५.६।
४. ऐत० ब्रा० ५.५.६।
५. वही ६.३.७; ७.३.६। तै० ब्रा० ३.१०.११.४।
६. छा० ब्रा० ९.१२।
७. गो० ब्रा० १.२.९।
८. **'अधीत्य वेदम्'**—निरुक्त १.६.२।

ही है। मंत्र-काल में 'वेद' शब्द मंत्रार्थक था, इसे यास्कने **'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'**[1] कहकर और भी स्पष्ट कर दिया है। ये कर्म-सम्पत्ति मंत्र संहिताओंमें हैं या ब्राह्मणोंमें ?—संहिताओंमें। फिर यह सुव्यक्त तथ्य है कि यास्कको 'वेद' का संहितापरक अर्थ ही अभिमत है।

वास्तवमें ज्ञानार्थक अथवा लाभार्थक √विद् धातुसे ही 'वेद' शब्द निष्पन्न हुआ—इसका अर्थ है—विद्या। इस संसारमें विद्यायें अनन्त और सार्वकालिक हैं, इसीलिए आर्यजन वेदको भी नित्य और अनन्त मानते हैं। सभ्यताके उषःकालमें प्रादुर्भूत भारतीय ऋषि विभिन्न विद्याओंमें पारङ्गत थे। उन्होंने धर्म-तत्त्वको प्रत्यक्ष किया था, अतः उनके द्वारा साक्षात्कृत मन्त्र भी तभीसे वेद कहे जाते हैं। इस प्रकारसे, प्रमुख रूपसे 'वेद' शब्दका व्यवहार मंत्रोंके लिए ही होता है। ब्राह्मणोंमें यद्यपि ऋगादि लक्षणोंका अभाव है, तथापि ऋगादिका व्याख्यान करनेके कारण वे भी 'वेद' कह दिए जाते हैं। तात्पर्य यह कि ब्राह्मणोंके प्रसंगमें 'वेद' नामकी संगति उपचार अर्थात् लक्षणासे ही बैठती है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' की यह कथा भी इसीका समर्थन करती है—

'भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णि स्थविरं शयानम् इन्द्र उपव्रज्योवाच—'भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम्, किमेनेन कुर्या इति।'

—'ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमि'ति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार; तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः; एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुभिरन्ववोचथाः; अथ त इतरदनूक्तमेव।'[2]

—ऋषि भरद्वाजने जब अपनी तीन अवस्थायें ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर वेदाध्ययनमें ही अर्पित कर दीं, तो उन जीर्ण, वयोवृद्ध और लेटे हुए मुनिके पास इन्द्रदेव स्वयं आये; उन्होने उनसे पूछा—'भरद्वाज ! यदि मैं तुम्हें चतुर्थ आयु और दे दूँ, तो उसका कैसा सदुपयोग करोगे ?'

भरद्वाज बोला—'ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययनमें ही उसे भी लगा दूँगा।'

तब देवराजने उन्हें अविज्ञात वेदके तीन बड़े-बड़े पहाड़ दिखाये। उनमें प्रत्येकसे एक-एक मुट्ठी अंश लेकर भरद्वाजको दिखाते हुए कहा—'भरद्वाज ! ये वेद हैं; वेद-राशि अनन्त है भरद्वाज ! तुमने तीन अवस्थाओं तक इन्हें पढ़ा, फिर भी यह अपठित ही है।'

---

१. निरुक्त १.१.२।

२. तै० ब्रा० ३.१०.११.३, ४।

'छान्दोग्य ब्राह्मण'[1] में 'विद्या' शब्दका प्रयोग वेदके अर्थमें हुआ है—**'प्रजापतिर्लोकानभ्यपतत्...अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् स एतां त्रयीं विद्यामभ्यपतत्।'**

अन्य स्थलों[2] पर भी ऐसे ही वाक्य प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे यह प्रमाणित हो गया कि हमारा पक्ष सही है। पहले 'वेद' शब्द 'विद्या' का ही दूसरा पर्याय था और मुख्यरूपसे इसका प्रयोग मंत्रोंके लिए होता रहा है। आपस्तम्ब प्रभृति ऋषियोंने जब अपने सूत्रोंकी रचना प्रारम्भ की, तब तक ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद माने जाने लगे थे। इसका प्रमाण है—**'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयं'** वचन। इसी कारण 'मनुस्मृति'[3] में आये 'वेद' शब्दसे मन्त्र और ब्राह्मण, दोनोंका ग्रहण किया जाता है। इसी स्मृतिमें, **'उदिते जुहोति'** सदृश 'ऐतरेय ब्राह्मण'-गत विधियोंको एक श्लोक[4] में 'वैदिकी श्रुति' कहा गया है—और यह उचित भी है।

'श्रुति' की सार्थकता—

'श्रुति' शब्द वेद का ही नामान्तर है, जो सुने जानेके कारण पड़ा। **'श्रुयजीषिस्तुभ्यः करणे'**[5] सूत्रसे निष्पन्न 'श्रुति' शब्द श्रवणेन्द्रियपरक है। यद्यपि **'स्त्रियां क्तिन्'**[6] से ही भाववाचक प्रयोग भी सिद्ध होता है किन्तु यहाँ कर्ममें ही 'क्तिन्' प्रत्यय लगा है। चिरकालसे ही लोग इस वेदको गुरु-परम्परासे सुनते रहे हैं—अब तक कोई एक भी वैदिक मन्त्रका काल-निर्णय नहीं कर सका है, इसलिए वायु आदिके समान अनादि और अपौरुषेय रूपमें ही पूर्ववर्ती विद्वान् वेदकी स्तुति करते हैं।

मंत्र-कालमें 'श्रुति' शब्द वेदार्थक नहीं था, क्योंकि मंत्र-संहिताओंमें कहीं भी वेदार्थक 'श्रुति' शब्द नहीं दिखाई देता। ऐतरेय ब्राह्मण आदि के प्रचारके पहले गाथा-कालमें इसका प्रयोग हुआ। पहले यह एक साधारण प्रवाद मात्र था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में यही बात इस रूपमें कही गई है : **'तस्मादपत्नीकोऽप्यग्निहोत्रमाहरेत्। तदेषाभिर्यज्ञगाथागीयते**

---

१. छा० ब्रा० १.१७.१–१०।
२. यज्ञपरिभाषा, सूत्र ३४वाँ।
३. 'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः'—मनुस्मृति २.१६५।
४. 'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते यथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥
—मनु० २.१५
५. पा० सू० ३.३.९५ वार्तिक २।
६. पा० सू० ३.३.९४।

—'यजेत् सौत्रामण्यामप्यपत्नीकोऽप्यसोमपः। मातापितृभ्यामनृणाद्यजेतिवचनाच्छ्रुतिः' इति। तस्मात् सौम्यं याजयेत्'।[1]

ऊपर दी हुई यज्ञ-गाथाके ही आधार पर यह ब्राह्मण-वचन रचा गया—'तदाहुर्वाचाऽपत्नीकोऽग्निहोत्रं स्वर्गाँल्लोकान् जयन्तीति।'[2]

इन वचनोंमें गाथा-कालकी साक्षी सँजोयी गयी है। पूरा काल-विभाजन इस प्रकार है—

१. मंत्र-काल;
२. मंत्रोंका यज्ञादिमें व्यवहार-काल;
३. प्रवाद श्रुतिकाल;
४. गाथा-काल;
५. ब्राह्मण-काल।

अधिकांश ब्राह्मण-वचनोंके मूल इन गाथाओंमें ही हैं।

यह प्रवाद अर्थवाला 'श्रुति' शब्द ब्राह्मणकालके अनन्तर मंत्र और ब्राह्मण—दोनोंके लिए ही व्यवहृत होने लगा। इसीलिए यास्कने निरुक्तमें कहा है—'सेयं विद्या श्रुति मति बुद्धिः।'[3] 'मनुस्मृति' इत्यादि ग्रन्थों में भी इसीकी याद दिलायी गयी है—

'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।'[4] तथा—'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो'[5]—'श्रुति' से वेद समझना चाहिये। अन्यत्र[6] भी ऐसे ही वचन हैं।

वेदका 'अनुश्रव' नाम भी श्रुतिमूलक ही है। ईश्वरकृष्णने अपनी 'सांख्यकारिका' में कहा है—'दृष्टवदानुश्रविकः।'[7]

'आनुश्रविकः' पदकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्रका कथन है—'गुरुमुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः'—अर्थात् गुरु-मुखसे सुने जानेके कारण वेद अनुश्रव हुआ।

लौकिक प्रवाद-वाक्योंके लिए भी बहुत बार 'श्रुति' शब्दका व्यवहार होता है; उदाहरणके लिए—

---

१. ऐत० ब्रा० ७.१.६।
२. वही ७.१.१०।
३. निरुक्त १३.१.१३।
४. मनुस्मृति २.६।
५. वही २.१०।
६. वही २.१५।
७. सांख्यकारिका, २।

'द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।'[1]

——इनकी दो पत्नियाँ विशेषप्रसवा (विजन्या) हुईं, ऐसी श्रुति है ।

इसी प्रकार——**'एष मे कृष्णसन्देशः श्रुतिभिः ख्यातिमेष्यति ।'**[2]

——यह मुझ कृष्ण का सन्देश है, जो श्रुतियोंके द्वारा विख्यात होगा ।

तथा——**'इति सत्यवती श्रुतिः'**[3]——यह सत्यवती-श्रुति है । इत्यादि ।

जिस वचनका प्रचार-काल आदि निश्चित नहीं होता कि कब और किसने कहा ?——किन्तु उससे प्रामाणिक रूपमें गुरु-परम्पराके माध्यमसे उपदेश प्राप्त होता है, वह वचन वैदिक हो या लौकिक, श्रुति है । यह माना जाता है कि मनु प्रभृति वेदज्ञोंके द्वारा विहित विधियोंका मूल श्रुतियोंमें है; वेदार्थका स्मरण करानेके कारण वे ही श्रुतियाँ स्मृतियाँ कहलायीं । जिस प्रामाणिक स्मृति-वचनका वैदिक मूल प्रत्यक्ष रूपसे नहीं प्राप्त होता, उसके मूलमें उस प्रकारके वैदिक वचन होनेकी कल्पना कर ली जाती है । रघुनन्दन आदि आचार्योंने ऐसे कल्पित वचनोंका व्यवहार भी श्रुतिके रूपमें किया है ।

मन्त्र-भागको तो सभी विद्वान् श्रुति मानते हैं । मनु आदिने ब्राह्मण भागको श्रुति माना है; प्रवाद-वाक्यों और लौकिक वचनोंका श्रुति रूपमें व्यवहार होता ही है और रघुनन्दन आदि आचार्योंके द्वारा कल्पित श्रुतियाँ भी हैं——इस प्रकारसे चार प्रकारकी श्रुतियाँ निश्चित हुईं ।

'आम्नाय' और 'समाम्नाय' नामों का विचार——

'नामलिङ्गानुशासन' में कहा गया है——**'श्रुतिस्त्री वेद आम्नायस्त्रयी'**——श्रुति, वेद, आम्नाय और त्रयी——ये सभी पद एकार्थक हैं । 'आम्नाय' और 'समाम्नाय' में अर्थकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है । इसीलिए 'लघुशब्देन्दुशेखर' में नागेशने भट्टोजिदीक्षितकृत **'इति माहेश्वराणि सूत्राणि'** की व्याख्या करते हुए कहा है——**'आम्नाय समाम्नाय शब्दौ वेदे एव रूढौ ।'**

——'आम्नाय' और 'समाम्नाय' शब्द वेद में ही रूढ़ हैं । यह कहा ही जा चुका है कि 'वेद' शब्द सूत्र-कालसे ही मंत्र और ब्राह्मण, दोनोंका ही ग्रहण कराता है ।

इसीलिए महर्षि जैमिनिकृत 'मीमांसा दर्शन' में, मंत्र और ब्राह्मणके अर्थमें 'आम्नाय' शब्दका बहुधा प्रयोग दिखायी देता है, जैसे——**'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्था-**

---

१. वाल्मीकि रामायण २.११०.१८ ।

२. महा० १.५० ।

३. भाग० पु० ४.२१.४५ ।

नाम्'[1] तथा—'**उक्तं समाम्नायैदमर्थम् ।**'[2] 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य'-गत '**स्याद्वाम्नायधर्मित्वाच्छन्दसि नियमः**'[3] की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उव्वट ने भी कहा है—'**आम्नायो वेदः । ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपम्, मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूत द्रव्यदेवता स्मारकः ।**'

—आम्नाय वेद है । ब्राह्मणोंमें विधियाँ और अर्थवाद हैं । मन्त्र कर्माङ्गभूत द्रव्य और देवताका स्मरण कराते हैं ।

'अथर्ववेद' के 'कौशिक सूत्र' में और भी स्पष्ट रूपसे कहा गया है—'**आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च ।**'[4]

—आम्नाय हैं मंत्र और ब्राह्मण । यास्कने 'निरुक्त' में भी मंत्र और ब्राह्मण दोनोंको ही आम्नाय बताया है, जैसे कि—'**अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति—'ओषधे ! त्रायस्वैनम्',[5] 'स्वधिते मैनं हिंसीः'[6] इत्याह हिंसन्**'[7]। इसका उत्तर देते हुए कहा गया है—'**यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत्**'[8] ।

यहाँ निश्चय ही यास्कको आम्नायके रूपमें मन्त्र-ग्रहण ही इष्ट है । आगेके कुछ और स्थलों पर[9] वे ब्राह्मणवाक्योंको भी आम्नायके रूपमें ग्रहण कर रहे हैं—'**एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः**' तथा—'**यथो एतद्रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति आम्नायवचनादेतद् भवति ।**

मन्त्रोंको आम्नाय मान करके ही (मंत्रोंसे) संगृहीत शब्दराशि (निघण्टु) को निरुक्तके आरम्भमें 'समाम्नाय' कहा गया है—'**समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः**' ;[10] दुर्गाचार्यने अपनी वृत्तिमें इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—'**छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाता, सैषा छन्दोऽवयवभूता छन्दो धर्मिण्येव यथायथापत्रस्तागौर्गोधर्म्मा ।**'

---

१. मीमांसा सूत्र १.२.१ ।
२. मीमांसा सूत्र १.४.१ ।
३. वाज० प्राति० १.४ ।
४. कौ० सू० १ ।
५. य० वा० सं० ४.१; ६.१५ ।
६. य० वा० सं० ४.१; ६.१५ ।
७. निरुक्त १.५.१ ।
८. निरुक्त १.५.२ ।
९. निरुक्त ७.६.४; ७.७.१ ।
१०. निरुक्त १.१.१ ।

वेदाङ्गोंको भी निरुक्तकार आम्नाय ही मानते हैं, उनका कथन है—**'समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च'**[1]—इस प्रमाण से मंत्र, मंत्रोंसे संगृहीत नैघण्टुक पद, ब्राह्मण और वेदाङ्ग भी आम्नायके रूपमें मान्य सिद्ध हो जाते हैं। 'लघुशब्देन्दुशेखर' में नागेशने **'ननु चतुर्दश सूत्राणामक्षर समाम्नाय इति व्यवहारानुपपत्तिः'** (१४ शिव-सूत्रोंको अक्षर-समाम्नाय कहना ठीक नहीं) प्रश्न उठाकर पाणिनीय व्याकरण आदि वेदाङ्गोंको भी आम्नाय प्रमाणित किया है।

'तस्येदम्'[2] पाणिनीय सूत्र पर कात्यायनका वार्तिक है—**'चरणाद्धर्म्माम्नाययोः'**।[3] इसके आगे एक और सूत्र है—**छन्दोगौक्थिकयाज्ञिक बह्वृचनटाञ्ञ्यः।**'[4] इन सूत्रों के आधार पर दीक्षितने नाट्यसूत्रोंको भी आम्नाय कहा है—**'चरणाद्धर्म्माम्नाययोरित्युक्तं तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि तयोरेव।'**

तात्पर्य यह कि दीक्षित प्रभृति विद्वान् शिलालि आदि ऋषियोंके द्वारा रचित प्राचीनतम नाट्यसूत्रोंको भी आम्नाय मानते हैं।

कुछ लोगोंके अनुसार 'आम्नाय' शब्द की निष्पत्ति '√म्ना>अभ्यासे' धातुसे हुई है; अतः जिस किसी ग्रन्थका अभ्यास किया गया, वही आम्नाय है। एक ही ग्रन्थको बारबार उच्चारण आदिके द्वारा याद रखना ही अभ्यास है। युगान्तके समय जब सभी प्राणी विलीन हो गये, तो अवशिष्ट जनोंने अपने-अपने अन्तेवासियोंको स्मृतिके अनुसार साङ्गवेद पढ़ा दिया। उन्हीं शिष्योंने बहुजनहिताय वेदका पुनः प्रसार किया। फिर प्रलय हुआ, सब कुछ जल-प्लावनमें निमग्न हो गया। धीरे-धीरे फिर नयी सृष्टि हुई, उस नूतन युगके प्रारम्भमें प्रलयके समय बच गये सत्पुरुषोंने अपनी-अपनी स्मृतिके अनुरूप ही अन्तेवासियोंके सम्मुख वेद-प्रवचन किया। यही साङ्गवेदका अभ्यास है—इसीलिए अङ्गोंके साथ सम्पूर्ण वेदराशि 'समाम्नाय' कही जाती है। 'सूर्य-सिद्धान्त' के 'ज्योतिषोपनिषद्' अध्यायमें भी यही बात कही गयी है—

'युगे-युगे समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वतः।
प्रसादात् कस्यचिद् भूयः प्रादुर्भवति कामतः॥'[5]

—सूर्यकी यह सृष्टि युग-युगमें समूल नष्ट होती रही और फिर किसीकी कृपा और इच्छासे इसका आविर्भाव होता रहा।

---

१. निरुक्त १.६.५।
२. पा० सू० ४.३.१२०।
३. पा० सू० वार्तिक २।
४. पा० सू० ४.३.१२९।
५. सूर्यसिद्धान्त, ज्यौ० अ० १९वाँ श्लोक।

विशेष बात यह है कि मन्त्रोंका ही स्वर, वर्ण और मात्राकी दृष्टिसे यथावत् तथा यथाश्रुत रूपमें अभ्यास किया जाता रहा है, इसीलिए मंत्रभाग ही 'दृष्ट' कहा जाता है।

मंत्रोंकी भी कई-कई शाखाएँ बन जाती हैं। शाखान्तरताके ये कारण हैं—पाठका न्यूनाधिक्य, पाठान्तर, क्रम-भिन्नता, स्मृति-च्युति आदि—और ये अनिवार्य हैं। ब्राह्मण-भागको 'दृष्ट' नहीं, 'प्रोक्त' समझा जाता है, क्योंकि वह केवल अर्थाभिधानकी दृष्टिसे उपयोगी है। अन्यथा प्रयोगके भयसे ब्राह्मणोंका यथावत् पाठ नहीं माना जाता, प्रत्युत दूसरे ग्रन्थके प्रवचनसे इनका अर्थाभ्यास हुआ। इसीलिए कहा जाता है कि इनकी रचना प्रवचन-पद्धतिसे हुई। यही बात वेदाङ्गग्रन्थोंके साथ भी है। यद्यपि उनके मूल तत्व अभ्यास करनेके योग्य थे, तथापि देश-काल-सापेक्ष-विधानके औचित्यवश हर नये युगमें उनकी नयी कल्पना ही की गई। तत्वतः अभ्यस्त होने पर भी इन वेदाङ्गोंकी कल्पना नये युगमें अक्षरशः नये ढंगसे की जाती है। इसीलिए इनका नाम 'कल्प' है, किन्तु शिक्षा प्रभृति पाँच वेदाङ्ग 'कल्प' नामसे अभिहित नहीं किये जाते, अपितु यज्ञादिका विधान करनेवाले पैङ्गी आदिके ग्रन्थ ही केवल 'कल्प' कहे जाते हैं। इसका कारण है लोक-व्यवहार। सभी वेदाङ्गोंमें कल्प प्रथम वेदाङ्ग है, केवल इन्हें ही क्यों कल्प कहा जाता है? इसका समाधान हम इस प्रकारसे दे सकते हैं; जैसे यद्यपि शैशिरीय आदि पाँचों शाखाओंका नाम शाकल है, फिर भी प्रसिद्धि केवल पहली शाखाकी ही 'शाकल' नामसे है। इसी-प्रकारसे यद्यपि सामवेदके सभी आर्च्चिक छन्द हैं, किन्तु केवल पूर्वभाग ही 'छन्द' नामसे विख्यात है।

इसीलिए यह आश्चर्यजनक नहीं कि ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी कभी-कभी 'निरुक्त' आदि नाम दिखायी पड़ जाते हैं। कौन कह सकता है कि प्राचीनकल्पमें नाट्य इत्यादि ग्रन्थ भी नहीं सम्मिलित थे? परन्तु मंत्रोंके अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थके यथावत् (अक्षरशः) अभ्यासका कोई प्रयोजन न होनेके कारण प्राचीन नट-सूत्र आदि प्रबन्ध रचित होने पर भी अन्नाध रूपसे आम्नाय हैं। फिर 'नट' शब्दसे कात्यायनोक्त धर्म्म और आम्नायको अभि-सम्बन्धित करने पर पाणिनीय सूत्रोंके वृत्तिकार भट्टोजिदीक्षितका क्या दोष है?

किन्तु यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद, मन्त्रोद्धृत पदराशि-स्वरूप निघण्टु, षड्वेदाङ्ग और नाट्यसूत्र आदि अन्य प्राचीनतम आर्यशास्त्र (सामान्य रूपसे) आम्नाय भले ही हों, किन्तु प्रमुखतया मंत्र-भाग ही आम्नाय है; क्योंकि प्रत्येक कल्पमें अक्षरशः आम्नान (अभ्यास) मंत्रोंका ही होता है। निघण्टुमें आये पद और ब्राह्मणग्रन्थ तो व्यावहारिक दृष्टिसे आम्नाय माने जाते हैं। वेदाङ्गोंको यास्क प्रभृति विद्वानोंने आम्नायके रूपमें स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र आदिको ठीक इसी रूपमें आम्नाय समझना कठिन है। (हाँ, सामान्य प्रयोगकी बात और है)।

'छन्द' नाम की प्राचीनता—

यह भी वेदका ही एक नाम है।

१. 'छन्द' शब्दसे पहले वायु आदि सभी ईश्वरीय प्रबन्धोंका बोध होता था—अथर्ववेदका इस विषयमें कथन है—**'त्रीणि छन्दांसि कवयो...आपो वाता ओषधयः'**[1]। यहाँ 'छन्द' का अभिप्राय है, संसारको बाँधनेवाले। जल, वायु और ओषधियाँ—इनसे जगत् बँधा है। निरुक्त[2] से भी इसीका समर्थन होता है—**'छन्दांसि छादनात्'** 'छादन' अर्थात् बन्धन। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में भी पृथिवी आदि विषयोंको बन्धन बताया गया है—**'विषिण्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति इति यावत्, विषयाः पृथिव्यादयः सुखादयश्चास्मदादीनाम्'**[3]।

२. तदुपरान्त जिस किसीके द्वारा उच्चरित अकार आदि सबका सब अक्षर-समाम्नाय 'छन्द' की सीमामें आने लगा। तैत्तिरीय शाखाका वचन है : **छन्दः पुरुष इति यमवोचाम्, अक्षर-समाम्नाय एव; तस्यैतस्याकारो रसः**[4]।' —छन्द-पुरुषके रूपमें जिसका कथन किया गया, वह अक्षर-समाम्नाय ही है। इसका रस अकार है। 'निरुक्त' के **छन्दांसि 'छादनात्'** वचन की संगति भी यहाँ बैठती है। अकार आदि शब्द अर्थोंके छादन (आवरण) ही हैं।

३. इसके उपरान्त ऋक्, यजुष् और सामरूप मंत्रोंके लिए भी 'छन्द' शब्दका व्यवहार होने लगा। 'अथर्ववेद' के 'उच्छिष्ट' सूक्तमें कहा गया है—

'अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रच्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः।'[5]

तथा—

'दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपांस्तोको अभ्यप्तद्रसेन। समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छदोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन'[6] ॥

यहाँ भी छादन अर्थ ही समीचीन है। छन्द मनोभावोंको आच्छन्न ही करते हैं।

---

१. अ० सं० १८.१.२.७।
२. निरुक्त ७.३.६।
३. सांख्यतत्त्वकौमुदी, ५वीं कारिका की व्याख्या।
४. तै० सं० ३.२.३.४।
५. अ० सं० ११.४.१.८।
६. अ० सं० ६.१२.११.१।

'**छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः**' में भी छन्द' का तात्पर्य मन्त्रसे ही है। 'निघण्टु' में मन्त्रोंसे ही पद उद्धृत किये गये हैं। दुर्गाचार्यने भी यही अर्थ किया है।

'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है—'**यश्छन्दसामृषभो विश्वरूप...भूर्भुवः सुवश्छन्द ओम्**'।[1] इस पर सायण-भाष्य है—'**यः प्रणवः वेदानां मध्ये ऋषभः श्रेष्ठः**'—वेदों के मध्य प्रणव (ओंकार) सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकारसे 'छान्दोग्य ब्राह्मण' में भी कहा गया है कि मृत्युसे डरकर देवता त्रयीविद्यामें प्रविष्ट हो गये; उन्होंने अपनेको छन्दोंसे आवृत कर लिया। यही छन्दोंका स्वरूप है—'**देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिश्छादयन्; यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्**।'[2] शतपथमें भी यही बात दुहरायी गयी है।

'निघण्टु' में 'छन्द' कान्तिकर्मक नामोंमें भी पठित है। इसका कारण यह है कि सभी वेद हमारे लिए काम्य हैं; कामनाओंके पूरक हैं, कमनीय हैं। यह अर्चतिकर्मक[3] भी हैं, क्योंकि सभी वेद-मंत्रोंकी अर्चामें गति है अथवा सभी वेद हमारे लिए पूज्य हैं। यहाँ भी 'छन्द' का अभिप्राय वेद-त्रयी ही है। अतः सर्वसम्मत निष्कर्ष यह है कि पहले सभी वेदोंका सामान्य नाम ही छन्द था। 'निघण्टु'[4] में इसका पाठ स्तोताके नामोंमें भी हुआ है। पाणिनीय अष्टाध्यायी, कात्यायनकृत वार्तिकग्रन्थ, व्याकरण महाभाष्य एवं अन्य ग्रन्थोंमें भी 'छन्द' शब्द सर्ववेदपरक है। इसी कारण वैदिकों को भी 'छान्दस्' कहा जाता है।

४. सामवेदीय ऋचाओंका विशिष्ट नाम भी छन्द ही है; जैसा कि कहा गया है—'**ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे**।'[5] तथा—'**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत**॥'[6]

कुछ वैदिकोंके मतानुसार ऊपर आये 'छन्दांसि' पदसे सामवेदकी ऋचाएँ ही ग्रहण की जायेंगी। सामवेद-संहिताके दो भाग हैं—१. गान और २. छन्द। ये चार ग्रन्थ गान माने जाते हैं—१. गेय, २. आरण्यक, ३. ऊह, ४. ऊह्य। छन्दोभागके भी दो भेद हैं—१. योनि और २. उत्तरा। इन दोनोंको 'आर्चिक' भी कहा जाता है। इस दृष्टिसे उपर्युक्त मंत्रका अर्थ यह है—

---

१. तै० सं० १०.६।
२. छा० ब्रा० ३.४.२।
३. निघण्टु ३.१४.२०।
४. निघण्टु ३.१६.१०।
५. अ० सं० ११.४.२.४।
६. ऋ० सं० १०.९०.८।

तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्—(जैसे) उस सर्वहुत यज्ञसे
ऋचः ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदके पादबद्ध मंत्र
यजुः यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके वृत्त तथा गीतिरहित आप्तवाक्य
सामानि सामवेद और यजुर्वेदके गीति अंश
जज्ञिरे उत्पन्न हुए, (उसी प्रकारसे)
तस्मात् उसी यज्ञसे
छन्दांसि सामवेदीय गान आदिके मूलभूत छन्द नामक मंत्र
जज्ञिरे उत्पन्न हुए।

यदि उन छन्दोंमें ही ऋचाके लक्षण भी हैं, तब पुनः छन्दोग्रहण अनर्थका कारण ही बनेगा ? इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि उन सामोंकी प्रमुखता बतानेके लिए 'ब्राह्मणवशिष्ठन्याय' से उन्हें पृथक् ग्रहण करना सदोष नहीं है अन्यथा वे (साम मंत्र) ऋग्वेदसे ही उद्धृत हैं, अतः गौण हो जायेंगे।

यहाँ हमने इस मतका निराकरण कर दिया कि ऋग्वेदसे ही साममूलीभूत ऋचायें (सामवेदमें) संगृहीत हुईं। इस विषयका विशद विवेचन आगे करेंगे।

वास्तवमें हौत्र (ऋग्वेद) और औद्गात्र (सामवेद) यज्ञके लिए ही हैं। होताके कार्य-निर्वाहके लिये जिन मंत्रोंका चयन किया गया, वे सभी 'ऋक्संहिता' में दिखायी देते हैं; उद्गाताके कार्य-सम्पादन हेतु चुने गये साम और ऋक् रूप मंत्र ही 'सामसंहिता' में हैं। सामसंग्रहात्मक ग्रन्थ चिरकालसे, 'साम' नामसे ही प्रसिद्ध है। इस समय उसे 'गान' भी कहा जाता है। ऋक्संग्रहात्मक दो ग्रन्थ तो पुरातनकालसे ही, 'छन्द' नामसे प्रसिद्ध हैं। इनका 'आर्चिक' नाम योगरूढ़िसे पड़ा है। प्रश्न यह है कि किस अवसर पर 'ऋक्संहिता' से सामवेदीय ऋचाएँ उद्धृत की गईं ? इसका समाधान यह है : जब, जैसे, जहाँ और जिससे 'ऋक्संहिता' सङ्कलित हुई, तभी, वैसे, वहाँ और उसीसे 'सामसंहिता' में भी छन्दोंका संग्रह हुआ—इसी तथ्यके स्पष्टीकरणके लिए **'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्'** पृथक् रूपसे कहना पड़ा।

५. पुराकालिक मंत्रोंमें ही गायत्री इत्यादि छन्दोंके लिए भी 'छन्द' नामका प्रयोग हुआ है; जैसे—**'छन्दांसि दधतो अध्वरेषु'**[1]—यज्ञोंमें छन्दोंको धारण करते हुए।

यहाँ भी 'छादन' (ढँकना) ही मूल कारण है। गायत्री इत्यादि छन्द शब्दोंको ढँकते ही तो हैं। जैसे पद्यसे शब्द ढँके जाते हैं, वैसे ही गद्य और गानसे भी। इसीलिए

---

१. ऋ० सं० ८.१६.५।

सर्वविध रचनाओंके लिए अत्यन्त प्राचीनकालसे ही 'छन्द' नाम प्रतिष्ठित है। कालान्तरसे लौकिक व्यवहारमें भिन्नता होनी दूसरी बात है। दुर्गाचार्यने इसी दृष्टिसे कहा था—**'छन्दांसि = छादनात्'—'मन्त्राः छन्दोमयाः, नाच्छन्दसि वागुच्चरति।'**—मंत्र छन्दोमय हैं—छन्दके अभावमें वाणी उच्चरित नहीं होती। इसी कारण वैदिक विद्वान् गद्यात्मक यजुष् मंत्रको भी 'छन्द' ही मानते हैं। पिंगलाचार्यने[1] गायत्री का एक भेद याजुषी गायत्री भी बताया है। अतः किसी विशेष अपेक्षाको ध्यानमें रखकर ही यजुष्को छन्दोविहीन कहा जाता है। कात्यायन[2] के अनुसार यजुर्वेदके भी सभी मन्त्रोंके छन्दोंका ज्ञान होना चाहिये। माध्यन्दिन शाखाके भाष्यकार महीधरका कथन भी है—

'यत्र यजुर्वेदमंत्रेषु कानिचिद् यजूंषि, काश्चन ऋचः, तत्र ऋचां नियताक्षरपादावसानानां आवश्यकं छन्दः कात्यायनेनोक्तम्, यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानामेकाक्षरादीनां दैव्येकमित्यादिनोक्तं छन्दो बोद्धव्यम्।'

—यजुर्वेदीय मंत्रोंमें कुछ यजुष् हैं और कुछ ऋचाएँ; नियताक्षरपादोंसे समाप्त होने वाली ऋचाओंके आवश्यक छन्द कात्यायनने बताये हैं, १०६ अक्षरोंवाले एकाक्षर आदि यजुषोंके दैवी आदि छन्द भी जानना चाहिए।

६. **'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयं'** के अनुसार 'छन्द' नामसे यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थोंका ग्रहण भी होता है, तथापि मुख्यरूपसे मन्त्रभाग ही छन्द है। इसीलिए यास्कने निरुक्तके आरम्भमें मंत्रके लिए ही 'छन्द' शब्दकी योजना की है। मंत्र और ब्राह्मण, दोनोंके लिए ही सामान्य रूपसे 'छन्द' शब्दके प्रयोक्ता महर्षि पाणिनिने भी कहीं कहा है कि 'छन्द' का व्यवहार (प्रमुख रूपसे) मंत्रोंके लिए ही है। **'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि'**[3] इत्यादि स्थलों पर 'छन्द' से मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका ग्रहण पाणिनिको इष्ट नहीं, अन्यथा 'ब्राह्मण' के पृथक्से उल्लेखकी आवश्यकता ही न थी।

७. यदि वेदाङ्गोंमें भी वेदत्वकी अतिव्याप्ति हो रही हो, तो उन्हें भी 'छन्द' मानना पड़ेगा, जैसा कि पतञ्जलिका कथन है—**'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति'**[4]—सूत्र छन्दके सदृश ही होते हैं। किन्तु यहाँ भी शौनकीय शिक्षा आदिको छन्द नहीं माना जायेगा, वे वेदाङ्गकी कोटिमें आती हैं या नहीं (इस विषयमें हम यहाँ निर्णय नहीं देते) क्योंकि वहीं आगे इसका प्रत्युदाहरण भी प्राप्त होता है—**'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'**।[5] यहाँ क्या 'छन्द' से

---

१. पिंगलसूत्र ३.३.८।
२. अनु० १.१।
३. पा० सू० ४.२.६६।
४. व्या० महा० १.४.२।
५. वही ४.३.१०६।

'शौनकीय शिक्षा' का ग्रहण होगा ? नागेशकी व्यवस्था है कि यहाँ 'छन्द' का अभिप्राय मुख्य छन्दसे भी हो सकता है, न कि वेदाङ्गत छन्दसे। पतञ्जलिने प्रातिशाख्य आदिके लिए भी 'छन्द' शब्दका प्रयोग किया है—**'छन्दःशास्त्रेषु।'**[1] यहाँ प्रातिशाख्य आदिसे तात्पर्य हो सकता है और छन्दःशास्त्रोंसे भी।

८. नागेश प्रभृति पण्डितोंने 'भिक्षुसूत्र' और 'नाट्यसूत्र' के लिए भी 'छन्द' शब्दका प्रयोग स्वीकार किया है—**'तित्तिरि०। इत आरभ्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तेनैकदिगित्येतपर्यन्तं छन्दसि वाच्ये इष्यन्ते। शौनकादिभ्यश्छन्दसीत्यतश्छन्दोग्रहस्य पूर्वमपकर्षादुत्तरत्रानुवृत्तेश्च।'** यह पूरा प्रसंग 'लघुशब्देन्दुशेखर' में ही देखना चाहिये। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि वहाँ 'एकदिग्' तक 'तित्तिरि' आदि दसों सूत्रोंमें से नवें सूत्रमें 'छन्द' शब्दसे 'भिक्षुसूत्र' और 'नटसूत्र' का ग्रहण भी देखा जाता है।

तात्पर्य यह कि कालक्रमसे विद्वान् केवल आर्ष ग्रन्थोंको ही 'छन्द' मानते रहे हैं।

'स्वाध्याय'-चिन्तन—

यह भी वेदका ही एक नाम है। **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**[2] आदि श्रुतियों तथा **'यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दम्'**[3] सदृश स्मृतियोंमें उक्त शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है। अभिप्राय यह कि द्विज वर्णोंके द्वारा जिसका भलीभाँति अध्ययन किया जाय, वही 'स्वाध्याय' है। मनुका भी यही कथन है—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥'[4]

—जो द्विज वेदाध्ययन न करके अन्य ग्रन्थोंके पढ़नेमें परिश्रम करता है, वह शीघ्र ही, जीवनमें ही, सपरिवार शूद्र हो जाता है।

आगम-अभिप्राय—

'आगम' भी वेदका नामान्तर है। वार्तिककार कात्यायनका कथन है—
'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।'

---

१. व्या० महा० १.२.१।
२. तै० आर० २.१५.७।
३. मनु० २.१०७।
४. मनु० २.१६८।

श्रीधरस्वामी (भागवतके भाष्यकार) ने यहाँ 'निगम' का अर्थ वेद करके सभी पुरुषार्थों और उपायोंका लक्ष्य होनेके कारण उसे ही कल्पतरु बताया है। 'भागवत' के दूसरे व्याख्याकार विश्वनाथ भी इससे सहमत हैं। 'भागवत' का प्रतिपाद्य विषय वैदिक है, अथवा नहीं, यह दूसरी बात है।

यह निगम कल्पतरु यद्यपि रचनात्रैविध्यके कारण 'त्रयी' नामसे प्रसिद्ध है, तथापि ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम संहिता और अथर्व संहिताके रूपमें चार प्रकारका है। प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थोंमें 'संहिता' के लक्षण इस प्रकारसे बताये गये हैं—

१. **'पदप्रकृतिः संहिता।'**[1]

२. **वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता।'**[2]

३. **'परः सन्निकर्षः संहिता।'**[3]

यद्यपि सभी संहिताओंमें ऋगात्मक (पद्यमय) मंत्र हैं, तथापि जिस ग्रन्थमें दूसरे प्रकारका एक भी मंत्र नहीं है, वही 'ऋक् संहिता' है। इसी प्रकारसे अन्य तीन संहिताओंमें भी 'यजुष्' (गद्यात्मक) मंत्र हैं, किन्तु जिस ग्रन्थमें इनका आधिक्य है; ऋचाओंका भी यजुष्के रूपमें ही पाठ तथा विनियोग है, वही 'यजुः संहिता' है। इसीलिए सायणाचार्यने 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' की भाष्य-भूमिकामें कहा है—

'तत्र यजुषामध्वर्युवेदेऽतिबहुलत्वात् क्वचित् क्वचित् ऋचां सद्भावेऽपि यजुर्वेद इत्येवाख्यायते।'

—'अध्वर्युवेद' में यद्यपि कहीं-कहीं ऋचाएँ भी हैं, तथापि अधिकता यजुषोंकी ही है, इसीलिए उसका 'यजुर्वेद' नाम पड़ा है।

यद्यपि 'सामसंहिता' के 'स्तोम' और 'गान' मूलतः ऋचाओं पर ही आधारित हैं और 'स्तोभ' यजुषों पर तथापि सामोंकी आधार-भूमि अन्यत्र प्राप्य नहीं है। रचनाएँ तीन प्रकार की ही होती हैं—पद्य, गद्य और गीति—इनके आधार पर ऋक् संहिता, यजुर्वेद संहिता और साम संहिता—ये तीन नाम तो निष्पन्न हो गये। प्रश्न यह है कि चौथी संहिताका क्या नाम रखा जाये? इसका समाधान यह है कि इस संहिताका नामकरण विभाजन करनेवालेके नामपर कर दिया गया। 'अथर्व संहिता' नामका यही रहस्य है।

अथर्वा ऋषि ही यज्ञ-प्रक्रिया के प्रथम प्रकाशक हैं; उन्होंने होता आदिकी सुविधाके लिए ऋगादि नामोंसे वेदका विभाजन किया—हमें यही सम्भव प्रतीत होता है। निम्न-लिखित मंत्रोंसे यही प्रतीत होता है कि यज्ञके आविष्कारक अथर्वा हैं—

---

१. ऋ० प्राति० २.१।

२. यजु० वाज० प्राति० १.१५८।

३. अष्टाध्यायी १.४.१०९।

१. 'यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्ते ।'[१]

२. 'अग्निर्जातो अथर्वणा ।'[२]

३. 'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।'[३]

४. 'अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितरसुं युवानम् । य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणोवोचस्तमिहेहब्रवः ।'[४]

'ऐतरेय ब्राह्मण' की निम्नलिखित उक्ति भी यही स्पष्ट सिद्ध करती है कि भलीभाँति सरलतापूर्वक यज्ञ-कार्यके निर्वाहके लिए ही ऋगादि रूपमें संहिता-विभाग हुआ—

'यदृचैव होत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवत्यथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्रय्या विद्यया इति ब्रूयात् ।'[५]

इसमें आये **'अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते ? त्रय्या विद्यया'** से यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण त्रयी-विद्या ब्रह्माकी कार्य-साधिका है । 'अथर्व-संहिता' के अध्ययनके बिना समग्र त्रयीविद्या का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें होता, अध्वर्यु और उद्गाताके द्वारा व्यवहार्य मंत्रोंके अतिरिक्त अन्य ऋचाएँ, यजुष् तथा दूसरे मंत्र हैं । इसीलिए **'ऋचान्त्वः पोषमास्ते'**[६] मंत्र की व्याख्या करते समय यास्कने भी कहा है—**'ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति'**[७]—ब्रह्मा सभी वेदोंका ज्ञाता होता है, वह सब जान सकता है । अथर्ववेद का ज्ञाता ही ब्रह्मा होता है और वही यज्ञकी सब प्रकारसे रक्षा कर सकता है । 'गोपथ-ब्राह्मण' में भी यही कहा गया है—

'ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यगधीयानश्चरितब्रह्मचर्योऽन्यूनातिरिक्ताङ्गोऽप्रमत्तो यज्ञं रक्षति, तस्य प्रमादात् यदि वाप्यसान्नैध्यात् यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत्—तस्मात् यजमानो भृग्वङ्गिरमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात्; स हि यज्ञं तारयतीति ब्राह्मणम् ।'

—वही विद्वान् ब्रह्मा यज्ञकी रक्षा कर सकता है, जो भृगु और अङ्गिरा ऋषियोंके द्वारा साक्षात्कृत मन्त्रोंका ज्ञाता है, समधीत है; ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला है, उसके शरीरमें न तो कोई अंग अधिक हो और न ही कम । वह प्रमादरहित होना चाहिए ।

---

१. ऋ० सं० १.६.४.५ ।

२. वही ७.७.४.५ ।

३. वही ४.५.२३.३ ।

४. अ० सं० ७.१.२ ।

५. ऐत० ब्रा० ५.५.८ ।

६. ऋ० सं० ८.२.४.५ ।

७. निरुक्त १.३.३ ।

जैसे अगाध जलमें नाव डूब जाती है, वैसे ही ब्रह्माके प्रमाद, असान्निध्य और अयोग्यतासे यज्ञ डूब जाता है। इसीलिए यजमानको चाहिए कि वह भृग्वङ्गिरोवित् अर्थात् अथर्ववेदी-को ही ब्रह्मा बनाये। वही यज्ञको पार लगाता है।

सामवेदी भी ब्रह्माको ही यज्ञ-वैद्य मानते हैं--**'भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविध ब्रह्मा भवति।'**[1]

'सामवेद' की भाष्य-भूमिकामें सायणाचार्यका भी कथन है--

'त्रयाणां अपराधन्तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा।'

--अन्य तीन ऋत्विकोंकी त्रुटियोंका निवारण ब्रह्मा ही करता है।

ब्रह्माके लिए यह तभी सम्भव है, जब वह निश्चित रूपसे चतुर्वेदी हो और समग्र त्रयीविद्यासे भलीभाँति परिचित हो। उसके लिए प्राप्य 'विश्वव्यचा' (सबको व्याप्त करनेवाला) और 'समुद्र' विषयक आख्यानोंकी संगति तभी बैठती है, जब वह सभी वेदोंका ज्ञाता हो। इस प्रकारका एक यजुष् मंत्र भी है--**'समुद्रोऽसि विश्वव्यचा।'**[2] 'गोपथ-ब्राह्मण' के पूर्वार्धमें भी कहा गया है--**'तस्माद् ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विद-मध्वर्युम् सामविदमुद्गातारं, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्।'**[3]

--ऋग्वेदज्ञको होता बनाओ, यजुर्वेदज्ञको अध्वर्यु, सामवेदज्ञको उद्गाता और अथर्ववेदीको ब्रह्मा।

तथा--**'प्रजापतिर्यज्ञमतनुत; स ऋचैव हौत्रमकरोत्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नौद्-गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम्।'**[4]

प्रजापतिने यज्ञका विस्तार किया; उन्होंने ऋग्वेदसे होताका कार्य सम्पन्न किया, यजुर्वेदसे अध्वर्युका, सामवेदसे उद्गाताका और अथर्ववेदसे ब्रह्माका।

'त्रयी' विषयक पाश्चात्य विचार--

इस विषयमें कुछ विदेशी विद्वानोंने भिन्न विचार ही व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार पहले केवल तीन वेद ही थे--ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। अथर्ववेद नहीं था। तभीसे वेदको 'त्रयी' कहनेका प्रचलन हुआ। इसीलिए प्राचीनतम ग्रन्थोंमें, न कि आधुनिक ग्रन्थोंमें, तीन वेदोंका उल्लेख मिलता है। 'छान्दोग्य ब्राह्मण' का वचन है--

---

१. छा० ब्रा० ५.१७.८।
२. य० वा० सं० ५.३३।
३. गो० ब्रा० १.३.१.२।
४. वही।

'अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् । स एतां त्रयीं विद्यामभ्यपतत्[1] ।'

'मनुस्मृति' में भी——

'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।।'[2]

'छान्दोग्य' आदिकी अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थोंमें वेद-चतुष्टयीका ही उल्लेख है, न कि त्रयीका; उस समय 'अथर्ववेद' भी अस्तित्वमें आ चुका था । उसका कारण यही है । 'बृहदारण्यक' में कहा गया है——

'अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः[3] ।'

——ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद——ये उस विराट् पुरुषके निःश्वास ही तो हैं ! 'महाभारत' में भी कहा गया है——

'एकतश्चतुरो वेदान् भारतञ्चैतदेकतः ।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ।।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ।
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।।'[4]

——प्राचीनकालमें सभी देवताओंने तुला (तराजू) के एक पलड़ेमें वेद रखे और दूसरेमें 'भारतकाव्य' । तोलने पर उपनिषद् सहित चारों वेदोंकी तुलना में 'भारतकाव्य' जब अधिक सिद्ध हुआ, तबसे संसारमें 'भारत' को 'महाभारत' कहा जाता है । 'महाभारत' में ही आगे कहा गया है——

'यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यात् नैव स स्यात् विचक्षणः ।।'[5]

——जो द्विज वेदाङ्गों और उपनिषदोंके साथ चारों वेदोंका तो ज्ञाता है किन्तु इस आख्यान (इतिहास ग्रन्थ——महाभारत) को नहीं जानता, वह विचक्षण नहीं समझा जाता है ।

तात्पर्य यह कि ऋक्, यजुष् और साम——ये ही तीन वेद 'त्रयी' शब्दसे वाच्य हैं । 'अथर्ववेद' का ज्ञान 'त्रयी' शब्दसे साक्षात् नहीं होता, प्रत्युत गौणी वृत्ति (लक्षणा) के

---

१. छा० ब्रा० ६.१७ ।
२. मनुस्मृति १.२३ ।
३. बृह० ४.४.१० ।
४. महाभारत, प्रथमपर्व, २६८, २६९ ।
५. महाभारत, आदिपर्व, ३६८ ।

द्वारा होता है—इसलिए ऋग्वेद आदि तीन वेद ही प्राचीनतम हैं; अथर्ववेद उनकी अपेक्षा अर्वाचीन ही है—यही पाश्चात्य वेदज्ञोंका विचार है।

सिद्धान्त-पक्ष----

उपर्युक्त विचार हमें ठीक प्रतीत नहीं होता; हम इस प्रकारका विचार सहन भी नहीं कर सकते। यह एकाङ्गी है। वेद अथवा लोक, कहीं भी इस मत का मूल नहीं दिखायी देता और न ही यह अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है। यदि 'त्रयी' नाम ही उपर्युक्त पक्षका समर्थक है, मूल कारण और आधार है, तो क्या ऊपर हमारे द्वारा की गयी व्याख्यासे ही उसका खण्डन नहीं हो जाता? चारों वेदोंके होने पर भी रचना-वैविध्यके कारण 'त्रयी' नाम पर आँच नहीं आती।

'ऋगादि के लक्षण साङ्कर्यदोष से मुक्त नहीं-पूर्वपक्ष ----

'सामवेद' में ऋचाएँ और यजुष् हैं, इसी प्रकारसे 'यजुर्वेद' में भी ऋचाओंका पाठ उपलब्ध होता है। प्रश्न उठता है कि फिर 'साम' इत्यादि के लक्षण साङ्कर्यदोषसे युक्त क्यों न माने जायें? इस विषयमें माधवाचार्यका सिद्धान्त यह है—जो ग्रन्थ सम्प्रति साम इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध हैं, उनमें 'यजुष्' आदिका मिश्रण भले ही हो, किन्तु उससे साम इत्यादि के लक्षणोंमें साङ्कर्यदोष नहीं आता। ऋचा इत्यादिके लक्षण तो सर्वथा अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे मुक्त हैं ही, जैसा कि कहा गया है—

'नर्कसामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्क्यते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्कर॥'[1]

—ऋक्, यजुष् और सामके व्यवस्थित लक्षण नहीं हैं। क्यों? क्योंकि साङ्कर्यदोषका परिहार बहुत कठिन है। यदि यह लक्षण करें कि 'अध्यापक-प्रसिद्ध ऋग्वेद आदिमें पठित मंत्र'—तो वह संकुचित है। **'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः'**—यह मंत्र सम्प्रति यजुर्वेदमें यजुषोंके मध्य पढ़ा गया है,[2] किन्तु यह यजुष् नहीं है; क्योंकि इसका प्रयोग 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में, त्रिक रूपमें, सावित्री-अर्च्चाके अन्तर्गत हुआ है। **'एतत् साम गायन्नास्ते'** कहकर कुछ साम यजुर्वेदमें स्वीकार किए गए हैं।[3] **'अक्षितमसि। अच्युतमसि। प्राणसंशितमसि'**—ये तीन यजुष् साम-वेदमें समाम्नात हैं।[4] इसी प्रकारसे गीयमान सामकी आधारभूत ऋचाएँ सामवेदमें पढ़ी जाती हैं। अतएव इनका साङ्कर्यदोषसे मुक्त कोई लक्षण नहीं है।

---

१. जै० न्या० वि० २.१.१०–१२।
२. तै० सं० १.१.५.१।
३. तै० सं० आ० ९.१०.५।
४. छा० ब्रा० ३.१७.६।

'ऋगादि के लक्षण साङ्कर्यदोष से मुक्त हैं'—सिद्धान्तपक्ष—

ऋचा आदिके पाद, गीति आदि लक्षणोंमें साङ्कर्यदोष नहीं है। ये लक्षण इस प्रकारसे हैं—

१. **पादबन्धेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः'**—

—पादवान्, अर्थयुक्त और वृत्तबद्ध मन्त्र ऋचाएँ हैं :

२. **'वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मंत्रा यजूंषि'**—

—वृत्त और गीतिरहित तथा प्रश्लिष्ट रूपमें पढ़े गये मंत्र यजुष् हैं।

३. **'गीतिरूपा मंत्राः सामानि'**—जिन्हें गाया जाये, वे साम हैं।

इन लक्षणोंमें कहीं भी साङ्कर्यदोष नहीं है[1]।

वस्तुतः जहाँ कहीं, जिस किसी भी ग्रन्थमें कोई पादयुक्त और वृत्तबद्ध मन्त्र दिखायी पड़े, वह निश्चित रूपसे ऋङ्मन्त्र है। और जो गीत्यात्मक मन्त्र दिखे, वह चाहे जिस ग्रन्थमें क्यों न हो, है साम ही। यही बात यजुष्के विषयमें भी है। यही तथ्य स्वीकार करके 'ऋक् प्रातिशाख्य' की व्याख्यामें विष्णुमित्रको कहना पड़ा—

'यः कश्चित् पादवान् मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसम्पदा।
स्वरयुक्तोऽवसाने च तामृचं परिजानते॥'

यास्कके निरुक्तमें ऋक्के रूपमें उद्धृत **'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि'** वचन वस्तुतः यजुर्वेद और सामवेदके ब्राह्मणोंसे लिया गया है। यह किसी 'ऋक्संहिता' की शाखामें प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत 'शतपथ ब्राह्मण'[2] और सामवेदके 'मंत्रब्राह्मण'[3] में प्राप्त होता है।

यदि यास्क मुनि ऋक्संहिता-गत वचनको ही ऋचा मानते, तो यह क्यों कहते ?—**'तदेतदृक्श्लोकाभ्याम्।'**[4] मुनियों और आचार्योंके द्वारा अपनायी गयी उक्त प्रवृत्तिसे यह ज्ञात होता है कि ऋक्-लक्षणयुक्त मंत्र किसी भी वेदमें क्यों न हो, रहेगा वह ऋक् ही। यही बात यजुष्के विषयमें भी है।

इस प्रकारसे यद्यपि कालकृत ग्रन्थाधिक्य है, तथापि रचना-वैविध्यके कारण वेदोंका त्रयीत्व पूर्ववत् ही आज भी सुव्यवस्थित है।

अथर्ववेद की सर्वसमकालीनता—

'अथर्ववेद' भी वेद-त्रयीके अन्तर्गत ही है, उससे पृथक् नहीं—क्योंकि उसमें भी ऋचाएँ

---

१. द्रष्टव्य : अधि० मा० २.१.५०।

२. शत० ब्रा० १४.९.४.२६।

३. मंत्र ब्रा० १.५.१७।

४. निरुक्त ३.१.४।

और यजुष् ही हैं। और जैसे 'सामवेद' नामका कारण साम-बाहुल्य है, तथापि उसमें पठित 'ऋक्' और 'यजुष्' इन्हीं नामोंसे जाने माने जाते हैं। ऋचाएँ और यजुष् होने पर भी वह सामवेद ही रहता है। इसी प्रकारसे अथर्व-कृत्या ग्रन्थ अथर्ववेदके रूपमें प्रसिद्ध है, तथापि इसमें पठित ऋचाएँ और यजुष् अपने इन्हीं नामोंसे क्यों नहीं स्वीकार्य होंगे? और इन्हें इसी रूपमें स्वीकार करने पर अथर्ववेदके अथर्ववेदत्व पर कैसे आघात लगेगा? भले ही अथर्ववेद (कुछ दृष्टियोंसे) अन्य वेदोंसे स्वतन्त्र हो, किन्तु उसके मंत्रों, जिनमेंसे कुछ ऋचाएँ हैं तथा कुछ यजुष्, के इन नामोंका निषेध कैसे किया जा सकता है? कदापि नहीं। अतः यह बात निःसंदिग्ध रूपसे सिद्ध हो गयी कि ग्रन्थभेदसे वेद चार हैं और रचना-भेदसे तीन। 'सर्वानुक्रमणी' की वृत्तिमें भी यही कहा गया है——

'विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋक्यजुः सामरूपेण मंत्रो वेदचतुष्टये॥
अग्ने बुध्नीय मंत्रं मे गोपायेत्यभिधीयते।
ऋक् पादबद्धो, गीतस्तु साम, गद्यं यजुर्मतः।
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते॥'

और पूर्वपक्षीने जो यह कहा कि 'छान्दोग्य ब्राह्मण' इत्यादि प्राचीनतम ग्रन्थोंमें केवल ऋक्, यजुष् और साम नामोंका उल्लेख है; उसकी अपेक्षा अर्वाचीन 'बृहदारण्यक' इत्यादि ग्रन्थोंमें ही अथर्ववेदका उल्लेख है——वह भी असंगत और भ्रान्त है क्योंकि सर्वत्र ही सभी नामोंका उल्लेख है। 'छान्दोग्य' में ही——**'ऋग्वेदं विजानाति, यजुर्वेद सामवेद-माथर्वणञ्चतुर्थम्।'**[1]

इसी प्रकारसे 'मनुस्मृति' में——**'अभिचारेषु, कृत्यासु।'**[2]

'शतपथ ब्राह्मण' में भी——**'त्रयो वेदा अजायन्त।'**[3]

'महाभारत' में——**'अग्निहोत्रं त्रयी विद्या'**[4]**; 'कश्चिद्धर्मे'; त्रयीमूले'**[5]**; 'न साम ऋग्यजुर्वर्णाः।'**[6]

किम्बहुना, जिस ग्रन्थमें वेद-त्रयीका उल्लेख है, उसीमें वेद-चतुष्टयका भी। अतः

---

१. छा० ब्रा० ७.७।
२. मनु ९.२९।
३. शत० ब्रा० ११.५.८।
४. महाभारत १.१००.६५।
५. वही २.५.९८।
६. वही ३.१५०.१३।

ग्रन्थोंकी प्राचीनता और अर्वाचीनताके आधार पर वेदके त्रित्व और चतुष्ट्वका निरूपण नहीं किया जा सकता। इस प्रकारसे पूर्वपक्ष निरस्त हो गया।

अथर्ववेदकी आधुनिकताके प्रतिपादनमें पूर्वपक्षी पाणिनिका भी अवलम्ब ग्रहण करते हैं। ऋक्, यजुष् और साम—ये मंत्र-लक्षण हैं। इसे यों भी कह सकते हैं—ऋक्लक्षण मंत्र, सामलक्षण मंत्र और यजुष्लक्षण मंत्र। ये ही मंत्र सभी वेदोंमें संकलित हैं—अतः इनके ग्रहणसे सभी वेदोंका ग्रहण स्वतः ही हो गया। जैसे सूत्रों (धागों) के ग्रहणसे वस्त्रोंका ग्रहण हो जाता है, वैसे ही। 'अथर्वा'—यह किसी मंत्रका लक्षण नहीं है, अपितु जैसे शाकल आदि शाखाओंका सामान्य नाम ऋग्वेद है; कौथुम आदि शाखाओंका सामान्य नाम सामवेद है, इसी प्रकारसे शौनकीया आदि शाखाओंका सामान्य नाम अथर्ववेद है। 'शाकल' आदि संहिताग्रन्थ दृष्ट नहीं हैं; पाणिनिने उन्हें अत्यन्त प्राचीन और आर्ष होनेके कारण 'प्रोक्त' कहा है। अतएव प्रयोजनके अनुसार पाणिनिने शाकल इत्यादि संहिताओंका उल्लेख 'प्रोक्ताधिकार' में किया है—**'शाकलाद्वा।'**[1] इसी प्रकारसे शौनक आदि संहिताओंका भी—**'शौनकादिभ्यश्छन्दसि।'**[2] इस सूत्रमें आये 'छन्दसि' शब्दके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि पाणिनिको किसी ऐसे शौनककृत ग्रन्थका ज्ञान था, जो प्रोक्तृ रूपमें ग्राह्य होने पर भी छान्दस् नहीं था। वह ग्रन्थ निश्चित रूपसे अथर्ववेदीय शिक्षा है। नागेशने वहाँ 'शौनकीया शिक्षा' कहकर उसका प्रत्युदाहरण भी दिया है। 'प्रोक्ताधिकार' में ही अथर्ववेदीय कल्पका भी ग्रहण है—**'काश्यप कौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः।'**[3] चार अध्यायोंवाला 'कौशिक सूत्र' अथर्ववेदके कल्पसूत्रके रूपमें प्रसिद्ध ही है। 'प्रोक्ताधिकार' में ही ये सूत्र भी आते हैं—**'छन्दोगौथिकयाज्ञिक वह्वृच नटाञ्ञ्यः।'**[4] तथा—**'आथर्वणिकस्येक लोपश्च।'**[5]

जैसे छन्दोगों (सामवेदियों) के धर्म अथवा आम्नायके अर्थमें 'छान्दोग्य' रूप सिद्ध होता है, वैसे ही आथर्वणिकोंके धर्म या आम्नायके अर्थमें 'आथर्वण' पद सिद्ध होता है। **'चरणाद्धर्माम्नाययोः'**[6] वार्तिक पाणिनिके अभिप्रायको ही कहता है, यह महाभाष्यसे स्पष्ट है—**'न चेदानीमन्यद् आथर्वणिकानां स्वं भवितुमर्हति, अन्यदतो धर्माद्वा आम्नायाद्वा।'**

---

१. पा० सू० ४.३.१२८।
२. वही ४.३.१०५।
३. पा० सू० ४.३.१०३।
४. वही ४.३.१२९।
५. वही ४.३.१३३।
६. वही ४.३.१२६।

अतः पाणिनिको न केवल अथर्ववेदके अस्तित्वका ज्ञान था, प्रत्युत अथर्ववेदीय शौनक-संहिता, कौशिक सूत्र, अथर्ववेदीय शिक्षा और अथर्ववेदीय पाठ-संवलित धर्म—इन सबका ज्ञान निश्चित रूपसे पाणिनिको था।

यह पूर्वपक्षी भी मानते हैं कि निरुक्तकार यास्क पाणिनिसे बहुत पूर्ववर्ती हैं। निरुक्तमें अथर्ववेदीय निगम (मंत्र) उद्धृत दिखाई देते हैं, फिर पूर्ववर्ती यह क्यों नहीं मानते कि अथर्ववेदका अस्तित्व यास्कसे बहुत पहले था? न केवल पाणिनिको, प्रत्युत उनके पूर्वज यास्कको भी अथर्ववेदके अस्तित्वका ज्ञान था। निरुक्तमें उद्धृत **'शतं जीव शरदो वर्धमानः'**[1] तथा **'एकं पादं नोत्खिदति'**[2] प्रभृति निगम अथर्ववेद[3] से ही लिये गये हैं। निरुक्तके निर्णयानुसार **'एकं पादं...'** ऋचा निघण्टुगत 'एकपात्' की निगम है। अन्यत्र यह वैश्वदेवी ऋचाओंके मध्य निपात के रूपमें आई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निघण्टु-समाम्नायके सङ्कलनसे पहले भी अथर्ववेद था। यास्क भी इससे सुपरिचित थे। उन्होंने निघण्टु-समाम्नानका उल्लेख अनेक बार किया था।[4] अतः अथर्ववेद भी अन्य वेदोंका समकालीन ही है—इस विषयमें हमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

वास्तवमें यज्ञके होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्माके कार्योंके अनुसार ही चारों संहिताएँ सम्पादित हुयीं, जहाँ जिसके विधानका उल्लेख है, वही उसका ब्राह्मण है। 'सर्वानुक्रमणी'-वृत्तिकी भूमिकामें कहा गया है—

'विनियोक्तव्यरूपो यः स मंत्र इति चक्षते।
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि॥'

—जिसका विनियोग किया जाये, वह मंत्र है। विधि और स्तुतिपरक शेषांश ब्राह्मण है।

इस प्रकारसे एक ही वेदके चतुर्धा-विभाजनमें किसे सन्देह हो सकता है? सामवेदीय 'ऊह' और 'ऊह्य' ग्रन्थोंमें प्रकरण-सन्निवेशसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यज्ञ-कार्यकी सरलताके लिए एक ही वेदके चार भेद किये गये। उक्त दोनों ग्रन्थोंमें क्रमसे ये सात पर्व दिये गये हैं—दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्र। इसी प्रकारसे यजुर्वेदसंहिताके प्रथम अनुवाक्की व्याख्या करते हुये भूमिकामें सायणाचार्यका कथन है—'इस वेदमें दर्श और पूर्णमास इष्टियोंके मंत्र तीन प्रकारके हैं—अध्वर्युके, यजमानके,

---

१. निरुक्त १३.४.७।
२. वही १२.३.१०।
३. अ० सं० २०.८.६.९; ११.२ अंतिम सूक्त।
४. निरुक्त १.१.१; ६, ५।

और होताके।.....इनमें यजमान और होताके मंत्र चित्रस्थानीय हैं और अध्वर्युके भित्तिस्थानीय—अतः उनका पहले पाठ उचित ही है।' यदि यज्ञ-कार्यके क्रमसे ही चारों संहिताएँ न संकलित हुयी होतीं, तो यह वचन असंगत हो जाता। और फिर जब यजुर्वेद तथा मैत्रायणी शाखाके परिच्छेदोंसे ही उक्त संशय नष्ट हो जाता है, तो अन्य प्रमाण प्रस्तुत करनेकी क्या आवश्यकता ?

ऋगादि नामोंके मूलहेतु—

अतः यह स्पष्ट है कि होताके द्वारा प्रयोज्य सभी मंत्र ऋचाएँ हैं—ऋक्संहिता उन्हींके संहननसे संकलित ग्रन्थ है। ऋचाओंका विनियोग-विधान जहाँ हुआ है, वह ग्रन्थ ऋक्ब्राह्मण है। इन्हीं दोनों ग्रन्थोंको सम्प्रति ऋग्वेद कहा जाता है। अध्वर्युके द्वारा व्यवहार्य मंत्र प्रायः यजुष् हैं; ऋचाएँ भी हैं—इन यजुषों और ऋचाओंके संहननसे ही यजुःसंहिताका संकलन हुआ है। इसके विनियोगोंका विधान यजुःब्राह्मणमें हुआ है—ये ही दोनों ग्रन्थ यजुर्वेद हैं। उद्गाता ऋक्, यजुष् और साम, तीनों प्रकारके मंत्रोंका प्रयोग करता है—इन्हींके संहननसे साम-संहिता सम्पन्न हुयी है। इनके विनियोग साम-ब्राह्मणमें विहित हैं। इन्हीं दोनों ग्रन्थोंका इस समय सामवेद नाम है। केवल ऋग्वेदको पढ़ने-पढ़ानेमें परिश्रम करनेवाले और उसे व्यवहारमें लानेवाले ऋग्वेदी कहे जाते हैं। ऋग्वेदियोंके ब्रह्मयज्ञादिकी सिद्धिके लिए आवश्यक मंत्र ऋक्संहितामें अन्तर्निविष्ट हैं। केवल यजुर्वेद पढ़ने-पढ़ाने तथा व्यवहारमें लानेवाले यजुर्वेदी कहे जाते हैं। यजुःसंहितामें ऋचाएँ भी हैं, इसलिए यजुर्वेदज्ञ ऋचाओंसे भी परिचित हो जाते हैं, अतः उन्हें 'द्विवेदी' या 'दुबे' कहा जाता है। मात्र सामवेद पढ़ने-पढ़ाने तथा प्रयोगमें लानेवाले सामवेदी हैं—उनके ब्रह्मप्रज्ञादिमें प्रयोज्य मंत्र भी सामसंहितामें सन्निविष्ट हैं और चूँकि सामसंहितामें ऋक् तथा यजुष् भी समाविष्ट हैं—अतः उन्हें उनका भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है; इसी-लिए वे 'त्रिपाठी' या 'त्रिवेदी' कहे जाते हैं। इन तीनोंसे अवशिष्ट मंत्रोंके सङ्कलनसे चौथी संहिता सम्पन्न हुयी—अथर्ववेद। इसमें ऋचाएँ भी हैं और यजुष् भी। इनके विनियोगोंका विधान अथर्वब्राह्मणमें हुआ है। ये ही दोनों ग्रन्थ अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं। यज्ञमें ब्रह्माके कार्य-निष्पादन हेतु सभी ऋचाओं, यजुषों और सामोंकी आव-श्यकता पड़ती है—इन समग्र मन्त्रोंका ज्ञान ऋक्, यजुष् और साम संहिताओंका अध्ययन कर लेने पर भी अथर्व-संहिताका अध्ययन किये बिना नहीं हो सकता। अतः जैसे होताके लिए ऋग्वेद, अध्वर्युके लिए यजुर्वेद और उद्गाताके लिए सामवेदकी आवश्यकता है, वैसे ही ब्रह्माके कार्य-सम्पादन हेतु अथर्ववेदकी। जैसे ऋग्वेदका दूसरा नाम होतृवेद, यजुर्वेदका अध्वर्युवेद और सामवेदका उद्गातृवेद है, वैसे ही अथर्ववेदका ब्रह्मवेद है। ब्रह्माके कार्य-निर्वाह हेतु अथर्ववेदके अध्ययनका विशिष्ट प्रयोजन ऋगादि अन्य वेदोंका अध्ययन किये

बिना पूर्ण नहीं हो सकता, अतः अथर्ववेदका अध्ययन करनेवालेको ऋग्वेदका अध्ययन अवश्य करना चाहिये--इसी निमित्त अथर्ववेदी प्रायः चारों वेदोंका अध्ययन करते हैं, अतः उन्हें 'चतुर्वेदी' (लोकभाषामें 'चौबे') कहा जाता है।

निष्कर्ष रूपमें यह सर्वमान्य है कि मूलतः एक वेद होने पर भी रचना-भेदसे वह तीन प्रकारका है और होता आदि ऋत्विकोंके कार्यनिर्वाह हेतु चार प्रकारका। निरुक्तमें भी इसीकी पुष्टि की गयी है--

'चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एव उक्ताः'[1] ।

--चार शृङ्ग अर्थात् चार वेद।

इस प्रकारसे यह सिद्ध हो गया कि 'त्रयी' शब्द चारों वेदोंका वाचक है।

ये चारों वेद दो प्रकारके हैं--१. मन्त्र, २. ब्राह्मण। 'यज्ञपरिभाषा' में आपस्तम्बका वचन है--**'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयं।'**

मंत्र का लक्षण--

यास्कके अनुसार मन्त्रका अभिप्राय मनन करना है--**'मंत्रा मननात्'**[2]। इसपर दुर्गाचार्यकी वृत्ति है--**'तेभ्यः (मन्त्रेभ्यः) हि अध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्रत्वम्।'** **'मननहेतुर्मन्त्रः'** लक्षण ठीक प्रतीत होता है, यद्यपि सायणाचार्यने अपनी ऋग्भाष्य भूमिकामें इस लक्षणको सदोष बताते हुये कहा है कि **'मननहेतुर्मन्त्रः'** लक्षणकी अतिव्याप्ति ब्राह्मणमें भी होगी, किन्तु उन्होंने इसके प्रमाणमें एक भी ब्राह्मण-वचन नहीं उद्धृत किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि सायणाचार्य **'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'**[3] के आधार पर **'अभियुक्तानां मन्त्रोऽगमिति समाख्यानं लक्षणम्'**--यह लक्षण करना चाहते थे; साथ ही पूर्वपक्षी आचार्यके द्वारा विहित **'विहितार्थाभिधायको मन्त्रः'** तथा मीमांसा-वृत्तिकारके द्वारा उदाहृत असि पदान्तादि १५ लक्षणोंका मीमांसा-भाष्यकारने जो खण्डन किया है, उनमेंसे भी कुछके उदाहरण वे दिखाना चाहते थे--इसी कारण उनका चित्त उद्विग्न हो गया तथा यास्कके कथन पर एकाग्रमनसे विचार करनेका अवसर ही उन्हें नहीं मिला। हमने 'निरुक्तालोचन' में यह प्रतिपादित किया है कि 'मीमांसा'-दर्शनके प्रवर्तक महर्षि जैमिनि यास्कके अग्रज थे। उनके लक्षणकी तुलनामें यास्कका **'मननात् मंत्रः'** लक्षण निर्दोष होना ही चाहिये। सायणकी अपेक्षा अधिक प्राचीन शवरस्वामीने मीमांसा-सूत्रके अपने भाष्यमें मंत्रके **'विहितार्थाभिधायक'** इत्यादि लक्षणोंका खण्डन

---

१. निरुक्त १३.१.७।

२. वही ७.३.६।

३. मीमांसा-सूत्र २.१.६३।

किया है, किन्तु वहाँ उन्हें यास्कके लक्षणको उस प्रपञ्चमें सम्मिलित करना भी इष्ट नहीं है। **'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः'**[1] और **'विधिशब्दाच्च'**[2] के व्याख्यान-प्रसंगमें उन्होंने स्वयं इंगित किया है कि मन्त्र मननके साधन हैं। 'तु' शब्दसे मंत्रोंके अदृष्ट प्रयोजनमूलक उच्चारण मात्रका निवारण किया है।.....मंत्रोच्चारणका प्रत्यक्ष प्रयोजन अर्थ-प्रकाशन ही है—**'तस्माद्विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चारयितव्याः।'**——अतः विवक्षित अर्थोंवाले मंत्रोंका प्रयोगकालमें अर्थ-प्रकाशनके निमित्त ही उच्चारण करना चाहिये। मन्त्रोंकी मननवत्ताको ही लक्षित कर यास्कने कहा था—**'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।'**[3]

यों यास्कका **'मननहेतुर्मन्त्रः'** और जैमिनिका **'मन्त्रोऽयमित्यभियुक्तोपदिष्टो मंत्रः'**—ये दोनों मंत्र-लक्षण दोषरहित हैं; जिसे जो अच्छा लगे, उसे वह ग्रहण कर ले।

इसका समाधान इस प्रकारसे भी किया जा सकता है—जैमिनिकृत मन्त्र-लक्षण ग्रन्थपरक है और यास्ककृत वाक्यपरक। जैमिनिके सिद्धान्तसे वैदिक समाख्यासिद्ध मंत्ररूपमें प्रसिद्ध संहिताएँ ही मन्त्रग्रन्थ हैं, न कि 'ताण्ड्य' आदि अन्य ग्रन्थ। यास्ककी दृष्टिमें उन ग्रन्थोंको भी उक्त लक्षणसे अन्वित मान लेने पर कोई हानि नहीं है। और 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण' में आये **'महन्मे वोचः'**, 'छान्दोग्य ब्राह्मण'-गत **'देव सवितः प्रसुव'** तथा 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में आये ऋक् और यजुषोंको मन्त्र सिद्ध करनेके लिए यास्कका 'मननहेतुर्मन्त्रः' लक्षण अवश्य मानना पड़ेगा। हमारे विचारमें दोनों लक्षणोंमें अन्तर केवल विषयका है, जो विवादका कारण नहीं होना चाहिए।

मन्त्र के भेद—

आनन्दपुरके निवासी, वज्रटके पुत्र और सम्पूर्ण यजुःसंहिताके भाष्यकार उव्वटने अपनी भाष्य-भूमिकामें मन्त्रके ये भेद किये हैं—

'विध्यर्थवाद याच्ञाशीः स्तुतिः प्रैष प्रवह्लिकाः।
प्रश्नो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तानुकीर्तनम्॥
अवधारणं चोपनिषत् वाक्यार्थास्तु त्रयोदश।
मन्त्रेषु ये प्रदृश्यन्ते व्याख्यातृ श्रुति चोदिताः॥'

---

१. मी० सू० १.२.४०।
२. वही १.२.५३।
३. निरुक्त ७.१.१।

इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकारसे हैं—

परमेष्ट्यभिहित—'**अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते**[१] ।'

अर्थवाद—'**देवा यज्ञमतन्वत**[२] ।'

याञ्चा—'**तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि**[३] ।'

आशीः—'**आ वो देवास ईमहे**[४] ।'

प्रैष—'**होता यक्षत्समिधाग्निम्**[५] ।'

प्रवल्हिका—'**इन्द्राग्नी अपादियम्**[६] ।'

प्रश्न—'**कः स्विदेकाकी चरति**[७] ।'

व्याकरण—'**सूर्य एकाकी चरति**[८] ।'

तर्क—'**मा गृधः कस्य स्विद्धनम्**[९] ।'

पूर्ववृत्तानुकीर्तन—'**ओषधयस्समवदन्त**[१०] ।'

अवधारण—'**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**[११] ।'

उपनिषत्—'**ईशावास्यमिदं सर्वम्**[१२] ।'

शवर-भाष्यमें भी 'आशिर' इत्यादि १३ मंत्रभेद प्राप्त होते हैं। ये दूसरी दृष्टिसे किये गये हैं और इन्हें वहीं देखना चाहिये। ऋग्भाष्यभूमिकामें सायणाचार्यने उनमेंसे कुछको उद्धृत भी किया है। उव्वटने ऊपर सभी उदाहरण यजुर्वेदसे ही दिये हैं। यास्कने बहुतसे ऋग्वेदीय उदाहरण भी दिये हैं। उन्होंने ऋचाओंको तीन भागोंमें विभक्त किया है—१. परोक्षकृत्, २. प्रत्यक्षकृत्, ३. आध्यात्मिकी।

'परोक्षकृत् और प्रत्यक्षकृत् मन्त्र तो बहुतसे हैं, किन्तु आध्यात्मिकी ऋचाएँ कम

---

१. वा० सं० २४.१।
२. वही १९.१२।
३. वही ३.१७।
४. वही ४.५।
५. वही ३.१२।
६. वही २१.२९।
७. वही २३.९३।
८. वही ३३.१०।
९. वही ४०.१।
१०. वही १२.९६।
११. श्वे० उ० ६,.१५।
१२. य० सं० ४०.१।

हैं।'...'कहीं स्तुति ही है, न कि आशीर्वाद...कहीं आशीर्वाद ही है, न कि स्तुति; अध्वर्युसे सम्बद्ध और यज्ञदृष्टिसे उपयोगी मंत्रोंमें इसकी बहुलता है।' इसके उपरान्त ये उदाहरण दिये गये हैं—'और भी, कहीं शपथ और अभिशाप हैं...और भी, किसी भावके आख्यानकी इच्छा है...और भी, किसी भावसे विलाप-भावना...इस प्रकारसे (विभिन्न) उत्कृष्ट अपकृष्ट अभिप्रायोंसे ऋषियोंने मंत्र-दर्शन किये हैं...—' ...'अक्ष-सूक्तमें द्यूत-निन्दा और कृषि-प्रशंसा है।'[1]

यही मन्त्र-भाग संहिता कहलाता है—इसका संक्षिप्त लक्षण तो हम पहले ही बता चुके हैं। प्रारम्भमें संहिताके दो भेद थे—१. निर्भुज संहिता, २. प्रतृण संहिता।

'निर्भुज संहिता' में पाठ यथाक्रमसे ही रहता है; उदाहरण—**'अग्निमीळे पुरोहितम्**[2]।' 'निर्भुज संहिता' को ही 'आर्षी संहिता' भी कहते हैं। 'प्रतृण संहिता' के भी दो भेद हैं—१. पदसंहिता २. क्रमसंहिता। 'पदसंहिता' में इस प्रकारसे पाठ रहता है—'**अग्निम्, ईडे, पुरःऽहितम्।**' 'क्रमसंहिता' में ऐसा पाठ होता है—'**अग्निम्, ईडे; ईडे, पुरोहितम्; पुरोहितमिति पुरःऽहितम्।**' 'क्रमसंहिता' के ही आधार पर 'जटा' आदि आठ विकृतियोंका पाठ किया जाता है; जैसाकि 'विकृतिवल्ली' में कहा गया है—

'जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, दण्डो, रथो, घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः[3]**।।'**

इस प्रकारसे प्रत्येक मंत्रके ११ संहितापाठ होते हैं। वास्तवमें पाठ-प्रकार भेदसे आर्षी-संहिताके ग्रन्थ अनेक हैं किन्तु संहिता प्रत्येक वेदकी एक-एक ही होती है।

पाठभेद के कारण—

ये संहिताएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। इस कारण काल, देश, व्यक्ति तथा अध्ययन-अध्यापनमें उच्चारणगत अन्तरसे पाठभेद हो गये। मंत्रोंकी संख्यामें भी न्यूनाधिक्य हुआ। सभी आचार्योंकी प्रकृति एक सदृश न थी—फिर उनके समक्ष देश-कालकी अपेक्षाएँ और अनुरोध भी भिन्न थे, इसकारण अनुष्ठानों और कार्योंमें भी पृथक्ता होनी स्वाभाविक थी। अतः मूल संहिता एक होने पर भी उसकी अनेक शाखाएँ हो गयीं।

विभिन्न शाखाओं की संख्या—

षड्गुरुशिष्यने शाखा-भेदोंकी गणना करते हुए किसी प्राचीन चरणषट्कसे निम्न-लिखित श्लोक दिये हैं—

---

१. निरुक्त ७.१३।
२. ऋ० सं० १.१.१।
३. विकृतिवल्ली १.५।

'एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदं ऋषयो विदुः ।
सहस्राध्वासामवेदो यजुरेकशताध्वकम् ।
नवधाथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम् ।

——ऋषियोंको ऋग्वेदकी २१ शाखाओंका ज्ञान था। सामवेदकी एक हजार शाखाएँ थीं और यजुर्वेदकी सौ। अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ थीं। कुछ विद्वानोंके अनुसार यह संख्या १५ है।

उन्होंने आगे अध्वा, गति, देवता और शाखा शब्दोंको परस्पर पर्यायवाची बताया है। उपर्युक्त संख्याका समर्थन पतञ्जलिने भी महाभाष्यके पस्पशाह्निकमें किया है——

'एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः।'

'चरणव्यूह'[1] में इससे भिन्न साक्ष्य मिलते हैं। वहाँ ऋग्वेदकी पाँच शाखाएँ बतायी गई हैं——१. आश्वलायनी, २. शाङ्खायनी, ३. शाकल, ४. बाष्कल और ५. माण्डूकायनी।

'यजुर्वेदीय शाखाओंके ८६ भेद हैं; इनमेंसे १२ भेदोंका नाम चरक है——१. चरक; २. आह्वरक; ३. कठ; ४. प्राच्यकठ; ५. कपिष्ठलकठ; ६. आष्ठलकठ; ७. चारायणीय; ८. वारायणीय; ९. वार्त्तान्तवेया; १०. श्वेताश्वतर; ११. औपमन्यव; १२. मैत्रायणीया। ये सात भेद मैत्रायणी कहलाते हैं——१. मानव; २. दुन्दुभा; ३. एकेया; ४. वाराहा; ५. हारिद्रवेया; ६. श्यामा; ७. शामायणीया। ये सत्रह शाखाएँ वाजसनेय हैं——१. जावाला; २. गौधेया; ३. काण्व; ४. माध्यन्दिन; ५. शापीया; ६. तापनीया; कापाला; ८. पौण्ड्रवत्सा; ९. आवटिका; १०. परमावटिका; ११. पाराशरीया; १२. वैरेया; १३. वैनेया; १४. औधेया; १५. गालव; १६. वैजक; १७. कात्यायनीया। दो भेद तैत्तिरीयक के हैं——१. औख्या; २. काण्डिकेया। काण्डिकेयाके भी ५ भेद हैं——१. आपस्तम्बी; २. बौधायनी; ३. सत्याषाढ़ी; ४. हिरण्यकेशी; ५. औधेयी। इसके अतिरिक्त यजुर्वेदके ४४ उपग्रन्थ हैं।'[2]

'सामवेदकी.....आसुरायणीया, वासुरायणीया, वार्त्तान्तवेया और प्राञ्जला; ऋग्वर्णभेद——प्राचीनयोग्या और ज्ञानयोग्या। नौ भेदोंका नाम राणायनी है——१. राणाय-

---

१. च० व्यू० खण्ड १।
२. वही खण्ड २।

नीया; २. शाटचायनीया; ३. सत्यमुद्गला; ४. खल्वला; ५. महाखल्वला; ६. लाङ्गला; ७. कौथुम; ८. गौतमा; ९. जैमिनीया।'[1]

टीकाकार महिदासका कथन है कि १६ में से तीन शाखाएँ ही विद्यमान हैं। गुजरातमें कौथुम शाखा प्रसिद्ध है; कर्नाटकमें जैमिनीया और महाराष्ट्रमें राणायनीया प्रचलित हैं।

'अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ हैं—१. पैप्पल; २. दान्त; ३. प्रदान्त; ४. स्नात; ५. स्नौत; ६. ब्रह्मदावल; ७. शौनक; ८. देवदर्शती; ९. कारणविद्या।'[2]

'विष्णुपुराण' इत्यादि ग्रंथोंमें शाखाओंकी संख्या और नाम भिन्न ढंगसे दिये हुए हैं। ये उल्लेख बहुत प्राचीन हैं, अतः इन्हें उद्धृत करना व्यर्थ है। इन्हें उद्धृत करनेसे भ्रमकी सम्भावना ही अधिक है।

वस्तुतः ऋग्वेदकी दो ही शाखाएँ मुख्य हैं—१. शाकल और २. शाङ्खयायन। शाकल्याचार्यने एक ही संहिता पाँच शिष्योंको पढ़ायी। उन शिष्योंके उच्चारणमें परस्पर अन्तर था—इसीसे एक ही संहिताके पाँच भेद हो गये; जैसाकि 'विकृति कौमुदी' में कहा गया है —

'शाकल्यस्य शतं शिष्या नैष्ठिकब्रह्मचारिणः।
पञ्च तेषां गृहस्थास्ते धर्म्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः॥
शिशिरो बाष्कलो साङ्ख्यो वात्स्यश्चैवाश्वलायनः।
पञ्चैते शाकलाः शिष्या शाखाभेदप्रवर्तकाः॥'

—शाकल्यके सौ शिष्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उनमेंसे ये पाँच शिष्य धर्मनिष्ठ और कुटुम्बका भरण-पोषण करनेवाले गृहस्थ थे—शिशिर, वाष्कल, साङ्ख्य, वात्स्य और आश्वलायन। शाकल्य के इन्हीं पाँच शिष्योंने विभिन्न शाखाओंका प्रवर्तन किया।

इस दृष्टिसे शैशिरीया, वाष्कली, साङ्ख्या, वात्स्या और आश्वलायनी शाखाएँ शाकलशाखाकी ही उपशाखाएँ थीं। ये ही पाँच शाखाएँ 'शाकल' कहलाती हैं। इसीलिए 'शौनकीयानुक्रमणी'में कहा गया है—

'ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम्।
प्रमाणमनुवाकानां सूक्तैः शृणत शाकलाः॥'

इसकी व्याख्या करते हुए षड्गुरुशिष्यका कथन है—**सर्वेषां (शैशिरीयादिपञ्चशाखाध्येतृणाम्) शाकलत्वमुक्तम्।'**

व्याडिप्रणीत 'विकृतिवल्ली' में इन्हीं पाँच शाखाओंके जटा आदि आठ प्रकारके पाठोंके नियम बताये गये हैं। अन्य १६ शाखाओंका सामूहिक नाम शाङ्खयायन है; इनके जटा

---

१. च० व्यू० खण्ड ३।

२. वही खण्ड ४।

आदि पाठ-सम्बन्धी नियम माण्डूकेय रचित ग्रन्थमें बताये गये हैं। कौषीतकी शाखा भी शाङ्ख्यायनविशिष्ट ही है। इस प्रकारसे, प्रारम्भमें द्विधा होने पर भी ऋक्संहिताकी बादमें क्रमशः २१ शाखाएँ हो गईं। 'चरणव्यूह'में उन्हीं पाँच शाखाओंके नाम मिलते हैं, जो उनके रचना-कालमें थीं।

यजुष् संहिताके भी पहले तीन भेद ही थे। इसके बाद कालगतिसे १९ चरकाध्वर्यु शाखाओं, १७ वाजसनेय शाखाओं और ६ तैत्तिरीय शाखाओंको मिलाकर कुल ४२ शाखाएँ हो गईं।

एक वेद की शाखाएँ अनेक, संहिता एक—

यद्यपि एक वेदकी बहुतसी शाखाएँ हैं, फिर भी, उनमेंसे किसी एक शाखाके अध्ययनसे ही एक वेदका स्वाध्याय हो जाता है क्योंकि एक वेदकी सभी शाखाओंमें संहिता प्रायः एक ही है। कुछ मंत्रोंके न्यूनाधिक्य, पाठान्तर, उच्चारण-भेद और अनुष्ठान-विधिकी पृथक्तासे उसके स्वरूपमें कोई मौलिक अन्तर नहीं आता। **'एकदेशविकृतमनन्यवत्'**[1] न्यायके अनुसार जैसे कटी पूँछवाले कुत्तेको भी कुत्ता ही कहा जाता है, वैसी ही स्थिति यहाँ भी है। इसीलिए सायणाचार्य सदृश भाष्यकारोंने यद्यपि प्रत्येक वेदकी एक-एक शाखा पर ही अपना भाष्य रचा है, तथापि उन्होंने अपनेको सर्ववेदव्याख्यानकी दृष्टिसे कृतकृत्य समझा है। 'मनुस्मृति' के निम्नलिखित वचन तभी सार्थक होते हैं—

१. **'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः।'**[2]

—सम्पूर्ण वेदको अर्थसहित समझना चाहिये।

२. **'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।'**

—३६ वर्ष तक गुरुके समीप रहकर त्रैवेदिक व्रतका पालन करना चाहिये।

३. **'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।'**[3]

—यथाक्रमसे सभी वेद अथवा दो वेद या एक ही वेदका अध्ययन करना चाहिये।

यदि प्रत्येक शाखामें भिन्न-भिन्न मन्त्र रहें, तो १२ वर्षमें सामवेदकी सहस्रशाखाओंका अध्ययन कैसे किया जा सकता है? ऐसी स्थितिमें उपर्युक्त वचन उन्मत्त-प्रलाप प्रतीत होंगे न?

शाखागत अन्तरका स्वरूप—

अतः यह स्मरणीय है कि एक वेदकी विभिन्न शाखाओंमें मनुस्मृति इत्यादिके सदृश

---

१. पा० सू० १.१.७२ पर भाष्य।
२. मनुस्मृति २.१६५।
३. वही ३.२।

अन्तर नहीं है, प्रत्युत भिन्न-भिन्न समयमें और पृथक्-पृथक् स्थानों पर लिखी गई एक ही ग्रन्थकी कई पाण्डुलिपियोंमें जो पाठान्तर आदि हो जाते हैं, ठीक वैसा ही अन्तर शाखाओंमें भी होता है। वेदोंका अनुश्रवण बहुत पहले हुआ था; शाखा-प्रवर्तकोंने अपने प्रवचनोंमें थोड़ी स्वच्छन्दता बरती—अन्तर आनेका यही कारण है। यहाँ यह संशय उठता है कि किसी भी वेदकी किन्हीं दो शाखाओंके आद्यन्त पाठसे ये अन्तर समाप्त हो सकते हैं, फिर यह सम्पूर्ण प्रपञ्च स्वयं ही समाप्त हो जायेगा। (नहीं, यह सम्भव नहीं, इतना सरल नहीं क्योंकि) यजुर्वेदकी वाजसनेय और तैत्तिरीय शाखाओंमें परस्पर इतनी भिन्नता है कि प्राचीन आचार्योंको उन्हें क्रमशः शुक्ल और कृष्ण मानना पड़ा है। जाबाल आदि सत्रह वाजसनेय शाखाएँ शुक्ल यजुष्के रूपमें प्रसिद्ध हैं और औख्य आदि छह तैत्तिरीय शाखाएँ कृष्णयजुष्के रूपमें। इस प्रकारके असामान्य अन्तरका कारण शतपथगत श्रुतियोंकी व्याख्यासे ही जानना सम्भव है।

चार वेदों की पाँच संहिताएँ—

निष्कर्ष यह कि वैदिक मंत्रभाग ऋक्, यजुष् और सामके रूपमें रचनात्मक दृष्टिसे तीन प्रकारका है और होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्माकी आवश्यकतानुसार उसकी चार संहिताएँ हुईं। कालान्तरमें यजुर्वेदके दो भेद हो गए—शुक्ल और कृष्ण। इस कारण सम्प्रति ५ वैदिक संहिताएँ हैं—१. ऋग्वेदसंहिता; २. शुक्ल यजुर्वेद संहिता; ३. कृष्ण यजुर्वेद संहिता; ४. सामवेद संहिता; ५. अथर्ववेद संहिता।

'संहिताओं में पौर्वापर्य है'—पूर्वपक्ष—

कुछ विदेशी विद्वानोंका यह आरोप है कि इन पाँचों संहिताओंमें पूर्वापर भाव है। ऋक्संहिताकी रचना सर्वप्रथम हुई। इसमें भी द्वितीय मण्डल अन्य मण्डलोंकी अपेक्षा नवीन है। दशम मण्डल तो एक प्रकारसे ऋक्संहिताका परिशिष्ट ही है। साम-संहिताके अधिकांश मन्त्र ऋग्वेदसे ही उद्धृत किये गये हैं; शुक्ल यजुःसंहिता ऋग्वेदकी अपेक्षा अर्वाचीन है। अथर्ववेदसंहिता तो सभी वेदोंके परिशिष्ट रूपमें विख्यात है। यह संहिता तो शुक्ल यजुःसंहिताके भी बाद की है।

'इनमें पौर्वापर्य नहीं'—सिद्धान्त पक्ष—

उपर्युक्त उद्भावनाएँ चूँकि वैदिक अन्वेषकोंकी हैं, इसलिए और लोगोंके लिए इनपर विश्वास करना स्वाभाविक ही है; किन्तु हमारी बुद्धि इनपर विश्वास नहीं करती। एक ही कालमें, एक ही आचार्यके द्वारा, एक ही चयन-यत्नके द्वारा संकलित की गई चारों संहिताओंमें परस्पर पौर्वापर्य कैसे हो सकता है? जैसे कोई फल-विक्रेता इस विचारसे कि आम चाहनेवाला आम ही ले, जामुन चाहनेवाला जामुन ही ले, कटहल खरीदनेवाला

कटहल ही खरीदे, राजादन चाहनेवाला राजादन ही ले, क्रय-विक्रयकी सुविधानुसार एक ही फलराशिके चार ढेर बना देता है—एक ही समयमें, एक ही चेष्टासे। उस फल-विक्रेतासे कौन बुद्धिमान् पुरुष यह कहनेको उत्साहित होगा कि यह ढेर पहले बनाया गया है, यह बादमें—और इसमें भी यह अंश प्राचीन है ? ठीक वही स्थिति यहाँ भी है। जैसे वहाँ फलोंकी उत्पत्तिमें कालकी पूर्वापरता तो है—सभी फल एक साथ पैदा भी कैसे हो सकते हैं ? वैसे ही यहाँ भी यह सत्य है कि सभी मंत्रोंकी उत्पत्ति एक ही समयमें नहीं हुई—उसमें पूर्वापरता है किन्तु उसके आधार पर संहिताओंकी प्राचीनता और अर्वाचीनता-के विचारकी संगति कैसे बैठ सकती है ? जो लोग यह कहते हैं कि फलों और मंत्रोंकी उत्पत्तिके काल-विचारसे ढेरियों और संहिताओंका उत्पत्तिकाल सर्वथा स्वतन्त्र है, वे यद्यपि बहुत शास्त्रविद्, विश्वविख्यात और लब्धप्रतिष्ठ हैं, तथापि उनकी वाणीको हम प्रमाणकोटिमें नहीं रख सकते।

'मनुस्मृति' में कहा गया है—**ऋग्यजुस्साम लक्षणम्।**'[1] यहाँ यदि कोई यह कहे कि 'ऋक्' शब्द प्रारम्भमें आनेसे वेदोंमें वही सर्वप्रथम है, तो ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरणके नियमानुसार ऐसे समग्र स्थलों पर 'ऋक्' का पहले प्रयोग होता है। पाणिनिका इस विषय-में सूत्र है—'**अल्पाच्तरम्**'[2]—अल्पाक्षर पदका प्रयोग पहले करना चाहिये। यदि पद-विन्याससे ही प्रमुखताका बोध होने लगे तो '**विन्ध्यकिष्किन्ध्यहिमालयाः**' में विंध्याचलको ही सबसे प्रमुख पर्वत मानना पड़ेगा, जो वह है नहीं। असमस्त स्थलोंपर भी, जहाँ 'ऋक्' शब्द पहले आया है, वहाँ प्रयोक्ताकी यदृच्छाको ही उसका मूल कारण मानना समीचीन है। 'ऋक्' के आदि-उल्लेखका एक और निदान है; वह यह कि पद्य, गद्य तथा गानात्मक रचनाओंमें बड़ी यद्यपि गानरचना ही है, किन्तु वह भी पद्यरचना पर ही आधारित है—अतः पद्यरचना उससे भी बड़ी सिद्ध हुई—इसीलिए ऋचाएँ प्रधान हैं और उनका पहले प्रयोग किया जाता है। जो लोग यह कहते हैं कि सर्वत्र 'ऋक्' शब्दके प्रथम प्रयोगसे सभी वेदोंमें ऋग्वेदकी प्रमुखता सिद्ध होती है, वह कल्पनामात्र है।

'कौषीतकि ब्राह्मण' में कहा गया है—'**तत्परिचरणावितरौ।**'[3]—इसका तात्पर्य है कि यज्ञ-काण्डमें होम-कर्मकी ही प्रधानता है—अध्वर्यु और उद्गाताके कार्य होम-प्रयोजनमूलक ही होते हैं। उक्त कथनसे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि ऋचाएँ पहले उत्पन्न हुईं। इस प्रकारसे उक्त विद्वानोंका अपने कथनके प्रमाणस्वरूप इस वचनको प्रस्तुत करना भी व्यर्थ ही है।

---

१. मनुस्मृति २.११।
२. पा० सू० २.२.३४।
३. कौ० ब्रा० ६.११।

पूर्वपक्षी दूसरा प्रमाण यह देते हैं कि सर्ववेद-भाष्यकार सायणाचार्यने अपनी 'ऋग्भाष्यभूमिका' में कहा है—**'मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्राध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाताः। साम्नान्तु सर्वेषां ऋगाश्रितव्यं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायामृच एव बाहुल्येनाधीयन्ते।'**

—यजुर्वेदगत मन्त्रकाण्डोंमें भी अध्वर्युके द्वारा प्रयोग की जानेवाली बहुतसी ऋचाएँ आम्नात हैं। यह प्रसिद्ध ही है कि सभी साम ऋचाओंपर आश्रित हैं। अथर्ववेदमें भी ऋचाओंका बाहुल्य है।

सायणाचार्यकी यह उक्ति सत्य प्रतीत होती है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सायण ऋग्वेदको प्रधान मानते हैं। इससे यही ध्वनित होता है कि मंत्रोंमें ऋचाओंका बाहुल्य है। ऋचाओंके प्राधान्यसे ऋक्संहिताकी प्रधानता नहीं सिद्ध होती। सायणाचार्य ऋचाओंको प्रमुख मानते हुए भी ऋग्वेदको गौण ही मानते हैं। तैत्तिरीय-भाष्यकी भूमिकामें उनका कथन है: **'आनुपूर्व्यात्कर्मणांस्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षितायां याज्यापुरोऽनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते, स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्।'**

—आनुपूर्व्यके कारण कर्मोंका स्वरूप यजुर्वेदमें ही बताया गया है। विशेष अपेक्षा होने पर याज्या और पुरोनुवाक्या आदिका उल्लेख ऋग्वेदमें है; स्तोत्र इत्यादि सामवेदमें हैं। इस कारण यजुर्वेद भित्तिस्थानीय (दीवार) है और शेष दो (ऋग्वेद और सामवेद) चित्रस्थानीय। अतः यज्ञानुष्ठानकी दृष्टिसे यजुर्वेद ही प्रधान है।

साम-भाष्य-भूमिकामें—

'अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञ - सम्पदः।
निर्म्ममीते क्रियासङ्घैरध्वर्युर्यज्ञियं वपुः।
तदलंकुरुते होताब्रह्मोद्गातेत्यमी त्रयः।...
यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्म्ममीते ततो यजुः।
व्याख्यानं प्रथमं पश्चादृचां व्याख्यानमीरितम्।
साम्नामगाश्रितत्वेन सामव्याख्याथ वर्ण्यते॥'

—यज्ञको चार ऋत्विक् सम्पन्न करते हैं, जिनमें अध्वर्यु प्रमुख है। (विभिन्न) क्रिया-कलापोंसे वह यज्ञ-शरीरकी रचना करता है। होता, ब्रह्मा और उद्गाता—ये तीन ऋत्विक् उस यज्ञको अलंकृत करते हैं। अध्वर्यु यजुषोंसे यज्ञ-निर्माण करता है—इसीसे यजुर्वेदकी व्याख्या पहले की गई। साम ऋचाओं पर ही निर्भर हैं, अतएव यजुर्वेदके अनन्तर ऋग्वेदकी व्याख्या की गई; और तत्पश्चात् अब सामवेदकी व्याख्या की जा रही है॥

इस पर विश्वास करना भी सम्भव नहीं है कि 'लोकसृष्टिके पूर्व ही ब्रह्माके चार मुखों से एक साथ चारों वेद उत्पन्न हो गए।' यह कथन पौराणिक कालके आचार्योंका है। इसमें मनका सन्निवेश करनेसे विचार-परम्परा प्रशस्त नहीं होती, जिससे अपने सिद्धान्त पर ही आघात लगता है।

यदि ऋक्संहिताकी प्रथमोत्पत्ति मान ली जाये तो स्पष्ट है कि उसके प्रणयन-कालमें साम और यजुषोंका अस्तित्व नहीं था, फिर यजुःसंहिता में यजुष् और सामोंका उल्लेख कैसे हुआ ?—सुधीजन देखें—

१. **'यजुस्तस्मादजायत्।'**[1]

२. **'तमेवमृचि तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।'**[2]

३. **'ऋक्सामाभ्यामभिहितौ।'**[3]

यदि कोई यह कहे कि ये सभी उदाहरण दशम मण्डलसे ही लिये गये हैं, जो अधिक प्राचीन नहीं है, तो पञ्चम मण्डलसे भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. **'गायत्साम नभन्यम्।'**[4]

२. **'तमु सामानि यन्ति।'**[5]

ऋक्संहितामें विशेष सामोंके नाम भी हैं—

१. **'रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः।'**[6]

२. **'भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेः ?'**[7]

यदि किसीका आग्रह हो कि ये तो दशम मण्डलगत उदाहरण ही हैं, तो कहना होगा कि अन्यत्र भी ऐसे उदाहरण आये हैं—

प्रथम मण्डलसे—**'रथन्तरे सूर्यम्पर्यपश्यत्।'**[8]

नवम मण्डलसे—**'प्र गायत्रेण गायत।'**[9]

---

१. ऋ० सं० १०.९०.९।
२. वही १०.१०७.६।
३. वही ८५.३१।
४. वही ५.१७३.१।
५. वही ५.४४.१४।
६. वही १०.१८१.१।
७. वही १०.१८१.२।
८. वही १.१६४.२५।
९. वही ९.६०.१।

अतः यह कथन कपोलकल्पनामात्र सिद्ध हो जाता है कि 'ऋक्संहिता और ऋङ्मन्त्रों-की रचना पहले हुई।

द्वितीय मण्डल भी अर्वाचीन नहीं है—

द्वितीय मण्डलकी तथाकथित आपेक्षिक अर्वाचीनता भी कपोलकल्पित है क्योंकि इस विषयमें प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। कौन सुधी पुरुष सूखे तिनकोंकी सहायतासे वट-वृक्षका दुर्ग काट सकता है ? द्वितीय मण्डलके भाष्यारम्भमें सायणाचार्यने अनुक्रमणीका यह वचन उद्धृत किया है—

'य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्।'

—जो आङ्गिरस शौनहोत्र होकर भार्गव शौनक हो गये, वही गृत्समद हैं। उन्होंने ही दूसरे मण्डलके मंत्रोंका साक्षात्कार किया। अतः यह स्पष्ट है कि दूसरा मण्डल शौनकसे सम्बद्ध है। पाणिनिने **'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'**[1] में यह स्वीकार किया है कि शौनकीय ग्रन्थ प्रोक्त है।

द्वितीय मण्डलकी चिरकालसे सिद्ध प्राचीनताके खण्डनमें प्रयुक्त यह उक्ति सूखे तिनकोंकी कैंची जैसी है। आँखोंवाले जरा देखें—शौनक अनेक हुये हैं—एक वंशमें उत्पन्न या दूसरेमें। शौनक मंत्र-द्रष्टा हुये हैं; इनसे भिन्न शौनकोंने भी कुछ सूक्तोंका साक्षात्कार किया है। द्वितीय मण्डलके द्रष्टा शौनक अन्य हैं। अथर्ववेदकी शौनकीया शाखाके प्रवक्ता शौनक दूसरे हैं। कुछ अन्य वंशोंमें उत्पन्न शौनक भी अबतक बहुतसे हुये हैं। **'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'** में उसी ग्रन्थकी ओर सङ्केत किया गया है, जिसका प्रवचन शौनकने किया। अथर्वसंहिताकी शौनकीया शाखाका अध्ययन करनेवाले ही शौनकी हुये। शौनकके द्वारा साक्षात्कृत ग्रन्थ उक्त सूत्रका विषय नहीं है। अनुक्रमणीके ऊपर उद्धृत वचनमें 'द्वितीय मण्डल देखा'—यह कहा है न कि 'द्वितीय मण्डलका प्रवचन किया'। निष्कर्ष यह कि द्वितीय मण्डलका दर्शन शौनकने किया—**'शौनकदृष्टं मण्डलं येऽधीयते'** में उक्त पाणिनीय सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। अतः द्वितीय मण्डलकी प्रोक्तमूलक आपेक्षिक अर्वाचीनताकी कल्पना भ्रममात्र सिद्ध हो गयी न ? पाणिनिके सूत्रोंकी समालोचनासे यही ज्ञात होता है कि वास्तवमें उन्हें शाखाएँ ही प्रोक्त रूपमें मान्य हैं; उन्होंने जिन प्रत्ययोंका विधान किया है, वे अध्येता आदिके सन्दर्भमें ही हैं। मन्त्र, सूक्त और मण्डलको साक्षात्कृत रूपमें ग्रहण करना ही उन्हें इष्ट है। अनुक्रमणी भी यही तथ्य प्रस्तुत करती है। पाणिनीय व्याकरणमें उक्त प्रत्यय-विधान मण्डल-अध्येताओंके सन्दर्भमें न होकर शाखाध्यायियोंके सन्दर्भमें है। जैसे ऋग्वेदकी शाकल आदि शाखाएँ हैं, वैसे ही

---

१. पा० सू० ४.३.१०५।

अथर्ववेदकी शौनकशाखा भी बहुत प्राचीनकालसे प्रचलित रही है। पाणिनि जैसे शाकल-शाखाको प्रोक्त मानते हैं, वैसे ही शौनक शाखाको भी। फिर यहाँ मण्डल-अध्येताके लिए उक्त प्रत्यय-विधान वह कैसे कर सकते थे? अनुक्रमणीकारने जिन्हें द्रष्टा बताया है, उन्हें ही वह प्रवक्ता कैसे कह सकते थे?

पूर्वपक्ष का दूसरा तर्क—ऋग्वेदकी एक ऋचा है —

'तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तवप्रशास्तृत्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥'[1]

इसके विषयमें यह कहा गया है कि इसमें आये होतृ आदि याज्ञिकोंके नामोंसे ज्ञात होता है कि यह मण्डल यज्ञ-कालमें बना।

उक्त विचार अदूरदर्शी और एकाङ्गी है। वस्तुतः यज्ञ-कालमें ही सभी संहिताओंका सङ्कलन हुआ, अतः संहिताओंमें सर्वत्र ही याज्ञिक नामपदोंसे युक्त मंत्र हैं, न कि केवल दूसरे मण्डलमें ही। ऋक्संहिताके विभिन्न मण्डलोंसे ये उदाहरण दिये जा सकते हैं—

१. होत्रम्[2]; **२. पोत्रम्**[3]; **३. ऋत्वियम्**[4]; **४. नेष्ट्र**[5]; **५. अग्निध्र**[6]; **६. प्रशास्ता;**[7] **७. अध्वरीयताम्**[8]; **८. ब्रह्मा**[9]; **९. गृहपति;**[10] **१०. दमे**[11]।

'होत्र' आदि पद दिखायी देनेसे यह तो सिद्ध हो जाता है कि ये सभी मंत्र यज्ञकालीन हैं किन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रथम मण्डलकी अपेक्षा द्वितीय मण्डल आधुनिक है?

क्या दशम मण्डल आधुनिक है?—

द्वितीय मण्डलके ही सदृश उक्त पूर्वपक्षी विद्वानोंने दशम मण्डलको ऋग्वेदका परिशिष्ट बताया है, प्रमाण दिया है भाषाई अन्तरका। उनके मतानुसार चूँकि दशम मण्डलकी भाषा और मन्त्रार्थगत तात्पर्य प्रथमादि मण्डलोंसे भिन्न हैं, अतः निश्चय ही वह मण्डल

---

१. ऋ० सं० २.१.२।
२–३. वही १.७६.४।
४. वही ८.४०.११।
५. वही १.१५.३।
६. वही १०.१४.१३।
७. वही १.९४.६।
८. वही १.२३.१६।
९. वही १.८०.१।
१०. वही १.१३.६।
११. वही १.१८।

नवम मण्डलका परिशिष्ट है। हम इस विषयमें क्या कहें ? हमारे श्रवणों (कानों) के अनुसार तो दशम मण्डल और अन्य मण्डलोंकी भाषा एक प्रकारकी ही है; हमारी बुद्धिके अनुसार तो मंत्रार्थगत तात्पर्यमें भी तथाकथित भिन्नता नहीं है। हमें तो यही दिखायी देता है कि उक्त विषयमें पूर्वपक्षियोंका कथन बुद्धि-मालिन्य, श्रवणेन्द्रियगत दोष तथा हठाग्रहयुक्त है।

दशम मण्डल परिशिष्ट नहीं है--सिद्धान्तपक्ष——

वास्तवमें वेदोंको यदि रचना मानें, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मन्त्रोंकी रचना अनेक व्यक्तियोंने विभिन्न कालोंमें की; अतः उनमें परस्पर भाषा-भेद तथा तात्पर्यमूलक अन्तर हो सकता है किन्तु मण्डलगत अन्तर तो असम्भव ही है क्योंकि ग्रन्थका प्रणयन मण्डलानुसार नहीं हुआ। सभी शाखाओंमें एक ही प्रकारसे परिच्छेद-विभाग करना भी सम्भव नहीं था। यजुर्वेदकी काण्वशाखामें ४१ अध्याय हैं और माध्यन्दिनीमें ४०। किसी शाखाके सभी मंत्र नौ परिच्छेदोंमें ही आ गए; दूसरी शाखामें वे ही ११ परिच्छेदोंमें आ पाए, फिर दशम मण्डलको परिशिष्ट कैसे कहा जा सकता है ? ऋग्वेदकी सम्प्रति प्रचलित संहितामें शाकल और बाष्कल दोनों ही शाखाएँ सम्मिलित हैं, क्योंकि दो प्रकारसे परिच्छेद-विभाग प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है कि एक शाखाका विभाजन अष्टक, अध्याय और वर्गोंमें हुआ; दूसरीका मण्डल, अनुवाक् और सूक्तोंमें। अष्टक, अध्याय और वर्गोंमें विभक्त शाखामें कुछ पाठ भी अधिक है, वे खिलात्मक मंत्र नहीं हैं, क्योंकि उनका भी पद-पाठ मिलता है; अध्ययन और अध्यापन होता रहा है। 'आश्वलायन श्रौतसूत्र' में इनका उल्लेख भी हुआ है—**'अथ वालखिल्या विहरेत्।'**[1] निरुक्तमें ये निगम कहे गये हैं। षड्गुरुशिष्यका इस विषयमें कथन है—**'बाष्कलके संहितापाठे अतः शाकलात् अधिकान्यष्टौ सूक्तानि'**—बाष्कलोंके संहितापाठमें शाकलकी अपेक्षा आठ सूक्त अधिक हैं। सायणाचार्यने ऋक्संहिताकी व्याख्या शाकलशाखाके ही आधार पर की, अतः वालखिल्यों पर उन्होंने अपना भाष्य तो नहीं रचा, किन्तु 'ऐतरेय ब्राह्मण' के भाष्यमें उन आठ सूक्तोंका अस्तित्व स्वीकार किया है। अन्य स्थलोंकी भाँति यहाँ भी वालखिल्योंकी सूक्त-संख्याके विषयमें पाठभेद हैं—कहीं ८ सूक्त मिलते हैं और कहीं ११। सुधीजन विचार करें कि बाष्कलशाखाके अष्टक विभागमें दशम मण्डल ही नहीं है फिर उसे परिशिष्ट कैसे माना जा सकता है ? पहले ऋक्संहितामें नौ मण्डल ही थे, दशम मण्डल बाद में आया—यह कहना जितना सरल है उतना यह नहीं—पहले सातवें अष्टकके पाँचवें अध्यायके २८वें वर्ग तक ही ऋक्संहिताका प्रवचन हुआ था, उसके बाद उस अध्यायके शेष अध्यायों और

---

१. आ० श्रौ० उ० २.२.३–२२।

वर्गोंकी रचना हुयी; आठवाँ अष्टक तो पूरा ही रचा गया। निरुक्तमें 'दाशतयी' शब्द आनेसे यह नहीं समझना चाहिये कि ऋग्वेदकी सभी शाखाएँ दशममण्डलात्मक ही हैं, क्योंकि फिर 'दाशतयी' पदसे केवल शाकल शाखाका ग्रहण नहीं किया जा सकेगा। प्रथमादि मण्डलोंके बहुतसे सूक्तों और दशममण्डलगत अनेक सूक्तोंके द्रष्टा एक ही हैं—फिर दशम मण्डलको परिशिष्ट कैसे माना जा सकता है?—इस विषयमें तटस्थ मनीषी विचार करें।

क्या सामवेद की ऋचाएँ ऋक्संहिता से उद्धृत हैं?—

यह कथन भी गर्वभरी वाग्विदग्धता मात्र है कि सामवेदके ऋङ्मंत्र ऋक्संहितासे उद्धृत किये गये। ऋग्वेदके 'सृष्टि सूक्त' में कहा गया है कि सामम्लक छन्द भी पहले पृथक् रूपसे ही उद्धृत हुये—

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥'[1]

यहाँ 'छन्द' पदसे सभी वैदिकोंको सामवेदकी ऋचाओंका ग्रहण ही इष्ट है। सभी वेदज्ञ मानते हैं कि सामवेदीय आर्चिक ग्रन्थ और उसके मंत्र छन्द हैं। पाणिनिने इस ओर विशेष रूपसे इंगित किया है—**'सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु**[2]**।'** इसके उदाहरण हैं—**'पंक्तिरादिरस्येति पांक्तः प्रगाथः'** आदि। प्रगाथ केवल सामवेदमें ही दिखायी देते हैं न कि अन्यत्र; सामवेदके 'ताण्डच महाब्राह्मण' में उनका विधान हुआ है।

और चूँकि सामम्लक मंत्रोंका बहुत समयसे 'छन्द' नाम है, इसलिए सामगान करनेवाले 'छन्दोगा' कहलाते हैं; कहीं भी, किसीने भी उन्हें 'ऋग्गा' नहीं कहा। सामवेदीय ब्राह्मण और उपनिषदें 'छान्दोग्य' कही जाती हैं। **'छन्दोगौविथक'**[3] सूत्रमें पाणिनिने इसकी व्युत्पत्ति भी दी है।

कुछ लोगोंका कथन है—**'वेदसंहितासु ये केचन प्राचीनतमश्लोकाः, त एव छन्दांस्यभिधीयन्ते; ततोऽप्राचीनाः मंत्राः'**—वेद-संहिताओंके प्राचीनतम श्लोकोंका ही नाम 'छन्द' है। मंत्र उनकी अपेक्षा अप्राचीन अर्थात् आधुनिक हैं। यह उक्ति जलके मध्य मसिविन्दु सदृश विलीन हो चुकी है या नहीं—इसका विचार भी वे ही करें।

पूर्वपक्ष—अच्छा, ऐसा ही सही; किन्तु यह तो यथावत् ही है कि सामवेदकी ऋचाएँ ऋक्संहितागत ऋचाओंकी अपेक्षा बादमें उत्पन्न हुईं, क्योंकि ऋक् और सामोंके अनन्तर ही छन्दोत्पत्ति सुनी जाती है—फिर तो यही कहना होगा कि 'लहशुन भी खा लिया और व्याधि भी न गई!'

---

१. ऋ० सं० १०.९०.९।

सिद्धान्ती—हमारा कथन है कि **'तस्माद्यज्ञात्'** मंत्रमें क्रमिक उत्पत्तिका वर्णन नहीं हुआ है; अन्यथा ऋक्‌की उत्पत्तिके अनन्तर सामकी उत्पत्ति और उसके बाद फिर सामोत्पत्ति माननी पड़ेगी और यह क्रम न तो प्रचलित ही है और न प्रसिद्ध ही। पूर्वपक्षी यदि यह तर्क दें कि ऋग्वेदीय ऋचाओंको आधार बनाकर ही साम गाये गये। उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है कि फिर उन सामगान करनेवालों की प्रसिद्धि 'ऋग्गा' नामसे होनी चाहिये—किन्तु लोक और वेद, कहीं भी ऐसा नहीं है—इसके विपरीत वे 'छन्दोगा' ही कहे जाते हैं, क्योंकि सामवेदीय ऋचाएँ 'छन्द' नामसे ही प्रसिद्ध हैं। यह भी असम्भव है कि पहले साम उत्पन्न हुये और बादमें साममूलक छन्द। जब ऋचाएँ प्रादुर्भूत हुईं, तभी साम, साममूलक छन्द और यजुष् भी उत्पन्न हुये। इनका उद्‌गमस्थान भी एक है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त मंत्रमें सबको एक ही साथ उत्पत्ति कही गयी है। एक अथर्ववेदीय मंत्रमें तो 'सह' शब्द भी आया है—

'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः॥'[1]

यहाँ 'पुराण' शब्द प्राचीन इतिवृत्तात्मक श्रुतियोंका बोधक है। इस मंत्रसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सभी प्रकारके मन्त्र एक साथ ही उत्पन्न हुये।

यदि यह माना जाये कि ऋक्‌संहितासे ही साममूलक मन्त्र उद्धृत किये गये तो सामवेदमें मंत्र-विन्यास उद्धरण-क्रमसे होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं है। दूसरी बात यह कि सामवेदमें बहुतसे मंत्र ऐसे हैं, जिनका ऋक्‌संहितामें अस्तित्व नहीं सुना जाता। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैसे ऋक्‌संहितामें सूक्त हैं, वैसे ही यहाँ 'दशत्' या 'दशति'[2] आदि हैं। प्रश्न है कि किसको कहाँसे उद्धृत किया गया? विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि यह तथाकथित अदला-बदली नहीं हुयी।

वास्तवमें, पहले सभी प्रकारके मंत्र बिखरे हुये थे। जब ऋचाओंके चयनसे ऋग्वेदीय सूक्त संपन्न हुये, तभी उसी प्रकारसे सामवेदकी दशतियाँ भी बनीं। इसमें विस्मय कैसा? दोनों ही संहिताओंमें ऋचाओंका चयन एकही कालमें एक स्थानसे ही हुआ। अतः यह मत निरस्त हो जाता है कि सामवेदमें ऋग्वेदीय मंत्र उद्धृत किये गये।

---

१. अ० सं० १७.७.२८।

२. सामवेदके प्रत्येक प्रपाठकमें दो अर्ध या खण्ड हैं। प्रत्येक खण्डमें एक दशति है—दशतिमें सामान्य रूपसे १० मंत्र होने चाहिये, किन्तु किसीमें कुछ कम हैं और किसीमें अधिक। कौथुम शाखामें दशतियोंको खण्ड कहा जाता है।—अनुवादक

ब्राह्मण-विचार—

आपस्तम्बका कथन है—**'कर्मचोदना ब्राह्मणानि ।'**[1]—(ब्राह्मण कर्म-प्रेरक हैं ।) इसीको इस रूपमें भी कह सकते हैं कि विधि ही कर्मोंमें प्रेरित करती है । सायणाचार्यके अनुसार विधियाँ दो प्रकारकी हैं—१. अप्रवृत्तप्रवर्तक और २. अज्ञातज्ञापक । **'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपति दीक्षणीयायाम्'** इत्यादि कर्मकाण्डगत विधियाँ अप्रवृत्त-प्रवर्तन करानेवाली हैं; **'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'**—आदि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ अज्ञातका ज्ञान करानेवाली हैं ।[2] विधिसे अवशिष्ट भाग अर्थवाद कहा जाता है—**'ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः ।'**[3] मीमांसक इन्हीं विधि और अर्थवादको ही शेषशेषि भाव अथवा अङ्गाङ्गि भाव भी कहते-समझते हैं । **'अथातः शेषलक्षणम्'**[4] के आधार पर इसका प्रतिपादन इस प्रकारसे किया गया है—**'शेषः परार्थत्वात्, द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः, कर्माण्यपि जैमिनिः, फलञ्च पुरुषार्थत्वात्, पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ।'**[5] उनकी यह मान्यता है ही कि विधियोंके साथ अर्थवादोंका अङ्गाङ्गि भाव है—**'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'**—इत्यादि छह सूत्रोंमें इसका विवेचन हुआ है । आशय यह कि आम्नाय (वेद) का प्रयोजन क्रिया है; इसके द्वारा क्रिया की ओर प्रेरणा मिलती है अतः विधिका प्रामाण्य तो है, क्योंकि वह क्रियार्थक प्रेरणा देती है; किन्तु अर्थवादोंका प्रामाण्य नहीं है—ये क्रियाकी ओर प्रेरित नहीं करते !

अर्थवादोंकी अनित्यताकी आशंकाकर जैमिनिने छह सूत्रोंमें कहा है—**'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थत्वेन विधीनां स्युः ।'**

—अर्थवादोंका प्रयोजन विधिकी स्तुति करना है, अतः विधिके साथ इनकी एक-वाक्यता है—इसी कारण इनका भी प्रामाण्य है । उदाहरणके लिए विधि-वाक्य है—**'वायव्यं श्वेतमालभेत ।'** अर्थवाद-वाक्य है—**'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'**—वायुदेवता बहुत शीघ्र फल देते हैं । अतः यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि अर्थवाद नित्य तथा सार्थक हैं । इसी अभिप्रायसे सायणाचार्यने कहा था—**'द्विविधम् ब्राह्मणम्—विधिः, अर्थवादश्च ।'**[6] आपस्तम्ब[7] के अनुसार अर्थवादके ये भेद हैं—निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्प ।

---

१. यज्ञपरिभाषा, सूत्र ३५ ।
२. ऋग्भाष्य भूमिका ।
३. यज्ञपरिभाषा, ३६ ।
४. मीमांसासूत्र ३.१.१ ।
५. वही ३.१.२–३ ।
६. यज्ञपरिभाषा, ३७ ।

निरुक्तमें भी अर्थवादोंको ब्राह्मण माना गया है—**'प्राशित्रमस्याक्षिणी निजघानेतितिच ब्राह्मणम्**[1] ।' यद्यपि यास्कने अर्थवादोंको ब्राह्मण माना है, फिर भी उनके कथनसे तत्त्व-निरूपणमें उनका अप्रामाण्य ही ध्वनित होता है—**'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति**[2] ।'

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सायणाचार्यने विधिके जो दो भेद बताये हैं, वह वेदान्तियोंके अनुरोधसे प्रौढ़िवाद मात्र है; अन्यथा आपस्तम्ब आदि याज्ञिक और जैमिनि प्रभृति मीमांसक तो इसी बातसे सहमत हैं कि विधि कर्मप्रेरिता मात्र होती है—**'कर्मचोदनैव विधिः ।'** कोई भी याज्ञिक **'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'** सदृश वाक्योंको विधि नहीं मानता है। इन्हें वह अर्थवादकी कोटिमें ही रखते हैं। 'शालिकनाथीयप्रकरणपञ्चिका' में कहा गया है—**'केवल वस्तुवादी वेदभागो नास्ति ।'** अतः उनके नियमसे अर्थवाद वेदकी कोटिमें नहीं आते। 'मीमांसासूत्र' में विधि और अर्थवादोंका भेद, प्रकार और उदाहरणोंके सहित प्रचुर वर्णन हुआ है। लौगाक्षि भास्करने 'अर्थसंग्रह' में और कृष्णयज्वाने 'मीमांसा परिभाषा' में इनका संक्षेपमें विचार किया है। विधि-विचार आदि प्रकरणोंमें एतद्विषयक विस्तृत प्रपञ्च भी उपलब्ध होता है। अतः इसे वहीं समझना चाहिये।

मीमांसावृत्तिकारने इस प्रकारसे ब्राह्मणके लक्षण दिये हैं—**'इतिकरणबहुलम्'; 'इत्याहोपनिबद्धम्'; 'आख्यायिकास्वरूपम् ।'**

ये लक्षण प्रायः साभिप्राय हैं; कभी-कभी इनकी मंत्रोंमें भी अतिव्याप्ति हो जाती है और कुछ प्रसंगोंमें ये ब्राह्मणोंमें भी व्याप्त नहीं होते। इसीलिए शबरस्वामि और सायणाचार्य इन लक्षणोंको अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषोंसे ग्रस्त मानते हैं।

जैमिनिका सूत्र है—**'शेषे ब्राह्मणशब्दः**[3] ।' 'मंत्र और ब्राह्मण, इन्हींका नाम है वेद। मंत्रका लक्षण बतानेके अनन्तर ब्राह्मणका लक्षण बतानेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि जो शेष रहा, वही ब्राह्मण है।' यह उपर्युक्त सूत्रपर भाष्य है। निष्कर्ष यह निकला कि विद्वानोंके कथनसे ही जाना जा सकता है कि यह मंत्र है और यह ब्राह्मण।

'तैत्तिरीय संहिता' के आदिमें ब्राह्मण-लक्षणोंसे युक्त श्रुतियाँ (मंत्र) हैं और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के आरम्भमें ऋक् आदि लक्षणोंवाले मंत्र हैं—फिर भी 'तैत्तिरीय संहिता' को 'मंत्रसंहिता' ही माना जायेगा। तथा 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' को ब्राह्मण ग्रन्थ। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि आपस्तम्बका ब्राह्मण-लक्षण ग्रन्थपरक न होकर श्रुतिवाक्यपरक

---

१. निरुक्त १२.२.३।
२. वही ७.७.२।
३. मीमांसासूत्र २.१.३३।

है; जैसे जैमिनीयके ऋगादिके लक्षण हैं। यहाँ भी इन प्राचीन श्लोकोंको उद्धृत किया जा सकता है—

'हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥
उपमानं दशैवैते विधयो ब्राह्मणस्य तु।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधि लक्षणम्॥'

इनके उदाहरण इस प्रकार से हैं—

१. हेतु—'सूपेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते।'
२. निर्वचन—'तद्ध्नो दधित्वम्।'
३. निन्दा—'उपवीता वा एतस्याग्नयः।'
४. प्रशंसा—'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता।'
५. संशय—'तद्विचिकित्सन् जुहवानी३ मा हौषा३ म्।'
६. विधि—'यजमान सम्मिता औदुम्बरी भवति।'
७. परकृति—'माषानेव मह्यं पचति।'
८. पुराकल्प—'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः।'
९. व्यवधारणकल्पना—'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वयेत्।'

दसवें उपमानका उदाहरण शवरस्वामिने नहीं दिया है; वहींसे लब्धविद्य सायणाचार्य फिर इसका उदाहरण कैसे देते! अथवा यह लेखकके प्रमादवश भी छूट सकता है। अपने ज्ञानके अनुसार हम इसका उदाहरण देते हैं—

'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत, एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति[1]।'

—हे सौम्य! जैसे धागेसे बँधा हुआ पक्षी हर दिशाकी ओर जाकर और अन्यत्र आश्रय न पाकर बन्धनका अवलम्बन लेता है; इसी प्रकारसे हे सौम्य; यह मन विभिन्न दिशाओंमें भटकनेके बाद वहाँ आश्रय न पाकर इस प्राणका अवलम्बन ग्रहण करता है। हे सौम्य! मनका बन्धन प्राण है।

ब्राह्मण ग्रन्थोंमें विधि और अर्थवादके अतिरिक्त कुछ ऐसे वाक्य भी हैं, जिनका सम्बन्ध

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.८.२।

इतिहाससे है, जैसा कि 'छान्दोग्य' में कहा गया है—'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि ...इतिहासपुराणम्'[१]।

'शतपथ ब्राह्मण' में भी—'अथाष्टमेऽहन्...तानुपदिशतीतिहासो वेदः, सोऽयमिति किञ्चिदितिहासमाचक्षीत् एवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति।'[२]

तथा—'अथ नवमेऽहन् तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत एवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति।'[३]

'तैत्तिरीय' में भी—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पना गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयः।'[४]

तथा—'ब्राह्मणानि कर्म्मचोदनाः—'वायव्यं श्वेतमालभेत'—इत्यादि।

इतिहास अर्थात् ब्रह्माण्ड आदिके नियम—'देवासुराः संयत्ता आसन्'—आदि।

सृष्टि-मूलके प्रतिपादक पुराण-वाक्य—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नैवेह किञ्चनाग्रे।'

कल्प अर्थात् कल्पसूत्र—इनमें प्रयोग और अनुष्ठानोंका प्रतिपादन है।

गाथाएँ—'योऽस्य कौष्ठयः'[५]।

नाराशंसी—'होता यक्षन्नराशंसम्'।

सायण-भाष्यमें ऐसा उल्लेख है कि फलाधिक्यका द्योतन करनेके लिए ब्राह्मण ग्रन्थोंके मध्य पठित वाक्योंकी भी कल्पोंमें पुनरुक्ति हुयी है। वास्तवमें कल्पोंके विषयमें यही कहना उचित है कि वे कल्पसूत्रोंके मूल (बीज) हैं—अथवा यहाँ पाठान्तर है? प्रवादवचन-रूप श्लोकबद्ध गाथाएँ ब्राह्मण ग्रन्थोंसे भी अधिक प्राचीन प्रतीत होती हैं, जैसे—
'तदेषाभियज्ञगाथा गीयन्ते—यजेत्सौत्रामण्या सपत्नीकोऽप्यसोमपः। मापापितृभ्यामनृणार्थाद्विजेतिवचनाच्छ्रुतिः'।[६]

नाराशंसी—ये वे श्रुतियाँ हैं, जिनमें मनुष्योंकी स्तुति की गयी है। ये तीन प्रकारकी हैं—१. मन्त्रात्मिका, २. गाथात्मिका और ३. ब्राह्मणात्मिका।

---

१. छा० ब्रा० ७.१.३।
२. शत० ब्रा० (अश्वमेधप्रकरण) १३.४.३.१२।
३. वही १३.४.३.१३।
४. तै० आ० २.९.२।
५. वही ६.५.२.१।
६. ऐत० ब्रा० ७.२.९।

मंत्रात्मिका नाराशंसी का उदाहरण—'**अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्द्धन्नस्थात्**[1] ।'

ब्राह्मणात्मिका—'**एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेणोदमय आत्रेयोऽङ्गमभिषिषेच तस्मादङ्गः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाया श्वेन च मेध्येनेजे**[2] ।'

'गोपथब्राह्मण' में, इस पद्यमें उल्लिखित श्रुतियोंके अतिरिक्त अन्य बहुतसी श्रुतियाँ दिखायी देती हैं; जैसे—

'**इमे सर्वे वेदा निर्म्मिताः; सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः, सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः**[3] ।'

इनमें 'कल्प' सम्प्रति प्रचलित कल्पसूत्रोंके मूल प्रतीत होते हैं; 'रहस्य' अर्थात् आरण्यक; 'स्वर' अर्थात् सम्प्रति प्रचलित शिक्षाग्रन्थोंके मूल; 'अनुशासन' भी आजकलके छन्दोऽनुशासनका मूल है; 'निरुक्त'—आजके निरुक्तका मूल। 'संस्कार' का अभिप्राय व्याकरणशास्त्रके उन ग्रन्थोंसे है, जो पाणिनि इत्यादिके ग्रन्थोंके मूल हैं; 'अनुमार्जन'—सम्प्रति अवशिष्ट वेदाङ्ग ज्योतिषका मूल। 'वाकोवाक्य' के विषयमें शंकराचार्यका कथन है कि ये प्रश्नोत्तर रूपमें थे; कुछ लोगोंका विचार है कि ये ऊहापोह आदिके रूपमें तर्कका प्रतिपादन करनेवाले मीमांसाशास्त्रके मूल हैं। प्रश्न यह है कि इनका पूर्वोक्त दस भेदोंमें कैसे समावेश किया जाये ? (इस विषयमें यही कहा जा सकता है कि) बहुत प्रयत्न करने पर भी केवल दो या तीन का समावेश तो हो सकता है, सबका नहीं।

ब्राह्मणोंमें मंत्र-व्याख्यान हुआ है—

बहुतसे ब्राह्मण-वाक्योंमें मंत्रोंकी व्याख्या की गई है, जैसे ऋग्वेदका एक मंत्र है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥'[4]

'ऐतरेय ब्राह्मण' में इसकी इस प्रकारसे व्याख्या की गयी है—'**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तेऽग्रेमया परिदधाति ।...छन्दांसि वै साध्यादेवाः तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त । 'ते स्वर्गं लोकमायन्' आदित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च ।**'[5]

---

१. ऋ० सं० ४.७.२६; ६.७.८ ।
२. ऐत० ब्रा० ८.४.७ ।
३. गो० ब्रा० १.२.९ ।
४. ऋ० सं० २.३.२३.४; ८.४.१९.६ ।
५. ऐत० ब्रा० १३.५ ।

निरुक्त इत्यादि ग्रन्थोंमें इसी व्याख्याका विस्तार दिखायी देता है[1] ।

यजुर्वेदकी शुक्ल और कृष्ण, दोनों शाखाओंके प्रथम मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' के कठिन पदोंकी व्याख्या इनके ब्राह्मणोंमें मिलती है; जैसे—

'शतपथ' में—'वृष्टचै तदाह यदाह इषे त्वेति', 'यो वृष्टादूर्गरसो जायते, तस्मै तदाह—' 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म[2]—' ।

'तैत्तिरीय' में—'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्' श्रेष्ठतमाय कर्म्मण इत्याह यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म्म तस्मादेवमाह ।' इसीसे ग्रन्थकी समाप्ति होती है ।

सामवेदमें, सामोंमें जो स्तोभ हैं, उनकी व्याख्या भी इस वेदके ब्राह्मणोंमें की गयी है । जैसे 'छान्दोग्य' में—'अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हायिकारश्चन्द्रमा अथकारः । आलेहकाराग्निरीकारः । आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिङ्कारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग् विराट् । अनिरुक्तस्त्रयोदश स्तोत्रः सञ्चारो हुप्पकारः[3] ।'

यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रचुर समय बीतने पर जब मन्त्रार्थ समझना कठिन हो गया, तब (यज्ञ-कालमें) यज्ञानुष्ठानोंमें व्यस्त तत्कालीन ब्राह्मणोंने मंत्रोंके विनियोग-विधानके साथ ही कठिन पदोंके अर्थ भी बतलाये । अतः यह भलीभाँति स्पष्ट है कि ब्राह्मणों-के रूपमें प्रथम वेद-भाष्यकी रचना हुयी ।

मीमांसा-दर्शनका प्रवर्तन जैमिनिने वेदार्थमीमांसाके लिए ही किया । उसके मंत्र-लिङ्गाधिकरणका एक सूत्र है—'विधिशब्दाच्च[4] ।' इस पर शबरस्वामिका भाष्य है—'विधिशब्दाच्च विवक्षितार्थानेव मन्त्राननुवदन्ति,—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्याः स्म इत्येतत् एवाह ।' वहीं सायणाचार्यका भी मत है कि 'विधि' शब्दसे मंत्र-व्याख्यान-रूप ब्राह्मणगत शब्दका ही कथन किया जाता है । उदाहरणपूर्वक उनकी पूरी व्याख्या इस प्रकारसे है—'स चैवम् आम्नायते—शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्याः स्मेत्येवैतदाह' —इति । तत्र 'शतं हिमाः[5]' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्; अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम् । संहिता-भाष्यमें भी इस प्रकारसे कहा गया है—'अत्र हिम

---

१. देखिए, निरुक्त १२.४.७ ।
२. शत० ब्रा० १.७.१.१–५ ।
३. छा० उ० १.१३.१–३ ।
४. मी० द० १.२.५३ ।
५. ऋ० सं० १.५.८.४ ।

शब्देन तद्युक्ता हेमन्तर्त्तवोऽभिधीयन्ते; तथा च ब्राह्मणम्'।—यहाँ 'हिम' शब्दसे हेमन्त ऋतु का नामोल्लेख है, जैसाकि ब्राह्मणमें कहा गया है।

भगवान् कात्यायनने भी अपने 'यजुर्वेद प्रातिशाख्य' में ऋक्, यजुष् और साम लक्षणोंसे युक्त मंत्रभागको ही वेद माना है; मंत्रव्याख्यानपरक ब्राह्मण भागको भाष्य ही बताया है; जैसे कि—'**ॐकारं वेदेषु**'[१] तथा—'**अथकारं भाष्येषु**'।[२] सूत्रोंमें आये 'वेद' और 'भाष्य' पदोंका अर्थ विचारणीय है। यद्यपि यहाँ भाष्यकार उव्वट भट्टको 'वेद' शब्दसे मंत्र और ब्राह्मण तथा 'भाष्य' शब्दसे कल्पप्रभृति वेदाङ्गोंका ग्रहण ही इष्ट है तथापि वहीं 'सात, तीन, दो, एक' आदि स्वरोंका विधान करनेवाले सूत्रों[३] में सामस्वर, नैगमस्वर और यज्ञ-कर्मस्वरोंके विधान पर विशेष विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि कात्यायनने यहाँ 'भाष्य' शब्दका प्रयोग ब्राह्मणोंकी दृष्टिसे ही किया है, क्योंकि '**अथ ब्राह्मणस्वरसंस्कार नियमः**' से '**तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्**' तक परिशिष्ट ग्रन्थके द्वारा उन्होंने भाषिक आदि स्वरों का ही सम्यक् परिचय प्रस्तुत किया है। ब्राह्मणग्रन्थोंको भाष्य मानने पर ही उनके स्वरोंका 'भाषिक' नाम सार्थक सिद्ध होता है। यह सभी मानते हैं कि ब्राह्मणोंके स्वर ही 'भाषिक स्वर' हैं। इसीलिए '**एकम्**'[४] सूत्र पर उव्वटकी टिप्पणी है—'**मन्त्रकाण्ड पठितानामपि ब्राह्मणभागानामश्वस्तूपर इत्यादीनां त्रैश्वर्यम् (निगमस्वरत्वम्) एव, ब्राह्मणकाण्डपठितानां विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेहेत्यादीनां भाषिकस्वर एवेति।**'

—मंत्र-काण्डमें पठित '**अश्वस्तूपर**' इत्यादि ब्राह्मणभागोंके स्वर निगमगत त्रिश्वर ही हैं, ब्राह्मणकाण्डमें पठित '**विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेह**' आदिके स्वर भाषिक ही हैं।

'तैत्तिरीय-संहिता' की भाष्य-भूमिकामें सायणाचार्यने अत्यन्त स्पष्ट रूपसे ब्राह्मणोंको मंत्र-व्याख्यान ग्रन्थ कहा है—'**यद्यपि मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मंत्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः।**'

—यद्यपि मंत्र और ब्राह्मण दोनोंही वेद हैं, तथापि ब्राह्मणोंमें मंत्रोंकी व्याख्या होने के कारण पहले मंत्रोंका ही समाम्नान हुआ। 'साङ्ख्यायनगृह्य'-कारका यह वचन भी समीचीन ही है—'**प्रोक्षणन्तु हिरण्यवता पाणिना दर्भपिञ्जूल वता वेति भाषिकम्।**'

---

१. यजुःप्राति १.१८।
२. वही १.१९।
३. वही १.२७–१३०।
४. वही १.१३०।
५. सां० गृ० ६.२।

निरुक्तका एक वचन है—'**अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः . . . अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः ।**' इसमें आये 'भाषिक' शब्दका मूल रूप यद्यपि 'भाषा' ही है, तथापि इससे हमारे कथन पर कोई आघात नहीं लगता, क्योंकि 'भाषा' और 'भाष्य'—दोनों रूप एक ही धातुसे निष्पन्न हुए हैं । भाष्यकी रचना भाषासे ही होती है; 'भाष्य' का तात्पर्य ही यह है कि वह मूल अर्थका बोध करा दे । समाजमें सामान्यरूपसे प्रचलित भाषामें व्याख्या किये बिना मूलका अत्यन्त स्पष्टीकरण नहीं होता । वेदकी कठिनताका निवारण करनेके लिए जब ब्राह्मणग्रन्थोंकी रचना हुयी, तब उसी भाषाका लोकमें प्रचलन और व्यवहार था, जिसमें वेदभाष्यरूप ब्राह्मण रचे गये । और जैसे उस समय ब्राह्मण ग्रन्थोंमें आये वाक्य भाषिक हैं, उसी प्रकारसे आजकलके हमारे वाक्य भी भाषिक ही हैं । अतः निरुक्त-वचन हमारे विरुद्ध नहीं है । वस्तुतः पुराकल्पमें, ब्राह्मण ग्रन्थोंके रचनाकालमें मंत्र ही वेद माने जाते थे; ब्राह्मण ग्रन्थोंकी मान्यता लौकिक रूपमें ही थी; किन्तु सम्प्रति दोनोंकी एक सदृश प्रतिष्ठा ही है । सूत्रकारोंके वचन भी वैदिक हैं । सूत्रोत्तरवर्ती साहित्य लौकिक है । यद्यपि शास्त्रकारोंका व्यवहार ही इसका समाधान है, तथापि इसमें भी प्राधान्य समयका ही है ।

और ब्राह्मणग्रन्थ शाखानुसार पृथक्-पृथक् नहीं हैं और न ही सभी शाखाओंमें एक ही है । ऋग्वेदकी 'शाकल' नामसे प्रसिद्ध शैशिरीय, बाष्कल, साङ्ख्य, वात्स्य और आश्वलायन शाखाओंका एक ही ब्राह्मण है—ऐतरेय । इसकी प्रसिद्धि 'बह्वृग ब्राह्मण' के रूपमें भी है । कौषीतकि आदि अन्य सोलह शाखाओंका कौषीतकि नामक एक ब्राह्मण है । इसे ही शाङ्ख्यायन भी कहते हैं । साङ्ख्यायन और शाङ्ख्यायन—दोनों ही पाठ हैं । यजुर्वेदकी चरकाध्वर्यु शीर्षक मैत्रायणी आदि १९ शाखाओंका मैत्रायणी ब्राह्मण है । वाजसनेय आदि सत्रह शाखाओंका भी वाजसनेय शीर्षक एक ही ब्राह्मण है । इसीका दूसरा नाम शतपथ ब्राह्मण है । छह तैत्तिरीय शाखाओंका भी एक ही ब्राह्मण है—तैत्तिरीय । सामवेदकी सम्प्रति पढ़ी जानेवाली जैमिनि, कौथुम और राणायणीय शाखाओंका भी एक ही ब्राह्मण है—छान्दोग्य । इसके प्रारम्भिक २५ अध्याय प्रौढ़ माने जाते हैं । मध्यवर्ती पाँच अध्याय 'अद्भुत्' और 'षड्विंश' नामसे प्रसिद्ध हैं । शेष १० अध्याय उपनिषद् हैं । इनमें भी आरम्भके दो अध्याय गृह्यमंत्रपेटिका-रूप होनेके कारण मन्त्र माने जाते हैं । सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्यके अनुसार सभी सामवेदियोंको इन ब्राह्मणोंका अध्ययन करना चाहिए—आर्षेय, सामविधान, देवताध्याय, वंश और संहितोपनिषद् । हमारे गुरुका कथन है कि आर्षेयप्रभृति पाँच ब्राह्मण वास्तवमें अनुब्राह्मण हैं । अथर्ववेदका एक ही ब्राह्मण दिखाई देता है—गोपथ । प्रश्नोपनिषद् इत्यादिके अस्तित्वसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस वेदके दूसरे ब्राह्मणोंका लोप हो गया ।

आरण्यक-विचार

आरण्यक भी वेदभाग है। कुछ लोगोंका मत है कि उसमें एक अध्याय ही है। कुछके अनुसार ब्राह्मण भागका परिशिष्ट ही आरण्यक है। अन्य विद्वानोंके विचार हैं कि पाणिनिसे पहले 'आरण्यक' नाम नहीं था। यह विचार वेदोंकी मुमूर्षु अवस्थाका ही ज्ञापन करता है। काश! यदि आज 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' श्रुतिका आदर कार्य-व्यवहारसे दिखाई देता; यदि आज **'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः'** सदृश स्मृति-वचनका सम्मान कार्यसे दिखाई देता, तो यह सभीको ज्ञात होता कि आरण्यक न तो केवल एक अध्यायात्मक ही है, न ही वह ब्राह्मण-भागका अन्तिम अंश है। पाणिनिसे बहुत पहले आरण्यकोंकी सत्ता थी।

सभी आरण्यकोंके अध्याय-परिगणनसे यह ज्ञात होता है कि आरण्यकमें केवल एक ही ग्रन्थ नहीं था। यह कहा जाता है कि **'पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्'** वार्तिकके भाष्यमें उदाहरण दिया गया है---**'आरण्यकोऽध्यायः।'** यह एक-वचनान्त है और इससे ज्ञात होता है कि आरण्यक एक अध्यायात्मक ही है।

सिद्धान्त-पक्ष----

वहीं कहा गया है कि---**'आरण्यको पन्थाः, ...आरण्यको न्यायः, आरण्यको विहारः, आरण्यको मनुष्यः, आरण्यको हस्ती---'** ये सभी एकवचनान्त उदाहरण हैं। इससे आरण्यक, पंथ, न्याय, विहार, मनुष्य और हाथी---इन्हें एक ही समझ लेना चाहिये, किन्तु कोई भी स्वस्थ मनुष्य ऐसा नहीं समझता। जैसे लोकमें बहुतसे पंथ, न्याय, विहार, मनुष्य और हाथी हैं, वैसे ही वेदमें बहुतसे अध्याय भी आरण्यक हैं। सामवेदके आर्च्चिक अंशके मध्यमें और सामसंहिताओंमें साम-आरण्यक प्राप्त होनेसे यह स्पष्ट ही है। न तो आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मणोंके साथ गुँथे हैं और न ही वे परिशिष्ट रूप हैं। साम आरण्यकके मंत्र सामसंहिताके मध्यमें हैं, अतः कोई भी उन्हें परिशिष्ट कहनेका साहस नहीं कर सकता।

पूर्वपक्ष---पाणिनिके कालमें आरण्यक नहीं थे, इसका एक और भी प्रमाण है। वह यह कि **'अरण्यान्मनुष्ये'**[1] पाणिनीय सूत्रसे 'आरण्यक मनुष्य' ही सिद्ध होता है, नकि 'आरण्यक पन्थ' और 'आरण्यक अध्याय।' इसीलिए इन (उत्तरवर्ती) पदोंको सिद्ध करनेके लिए कात्यायनको **'पथ्यध्याय'** वार्तिक बनाना पड़ा। पाणिनिके समयमें अगर आरण्यक होता तो वे इस प्रकारके रूप सिद्ध करते न?

सिद्धान्त पक्ष---हमारा कथन है कि उस समय भी आरण्यक अध्याय अवश्य था; साम-संहिताके मध्यमें रहनेके कारण आरण्यक भी मंत्र-ब्राह्मणात्मक थे और इसी कारण

---

१. पा० सू० ४.२.१२।

वे अत्यन्त प्राचीन माने जाते थे। केवल इतना ही नहीं, पाणिनिके समयमें उक्त प्रकारके मंत्र और ब्राह्मण आरण्यक तो समझे ही जाते थे—साथ ही इसकी भी सम्भावना है कि मंत्रात्मक आरण्यक मंत्ररूपमें और ब्राह्मणात्मक आरण्यक ब्राह्मणरूपमें रहे होंगे। मात्र इसी कारण कि पाणिनिने ऐसे प्रयोग सिद्ध नहीं किये, यह कैसे कहा जा सकता है कि उस समय उक्त प्रयोगोंसे वाच्य वस्तुओंका अभाव था। जो यह मानते हैं कि पाणिनिके कालमें आरण्यक नहीं थे, उन्हें यह भी मानना होगा कि उस समय न तो आरण्यक हाथी थे, न आरण्यक पंथ थे। जंगलोंमें गायें मल-उत्सर्जन भी नहीं करती थीं; बहुत बर्फ भी न थी; बड़े जंगल भी नहीं थे। 'पथ्यध्याय' वार्तिकसे कात्यायनने अरण्यसे सम्बद्ध एक ही प्रयोग तो सिद्ध नहीं किया होगा और न ही उन्होंने मात्र वही एक वार्तिक रचा होगा।

मनुस्मृति[1] में कहा गया है—

'सामध्वनौ ऋग्यजुषी नाधीयीत कदाचन।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च॥'

इसके आधार पर कुछ लोगोंका कथन है कि आरण्यकका उल्लेख ऋक्, यजुष् और सामसे पृथक् हुआ है—अतः आरण्यक त्रयीके अन्तर्गत भी नहीं हैं। यह सत्य नहीं है, क्योंकि इसका आशय केवल यह बोध कराना है कि आरण्यक भी ब्राह्मणात्मक है। उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकारसे है—'सामगानके अनन्तर ऋक् और यजुष्का अध्ययन करना व्यर्थ है, क्योंकि सप्तस्वर समन्वित गानके अनन्तर त्रैश्वर्यादि श्रुति (उदात्त, अनुदात्त और स्वरितयुक्त) मधुर नहीं लगती और न ही उद्गाता सप्त स्वरोंका अवतरण करानेके बाद तत्क्षण ही अपने कण्ठसे त्रैश्वर्यश्रुति निकाल सकता है—इसीलिए ऐसा विधान किया गया है। इसी प्रकारसे वेदके अन्तिम भाग आरण्यकका अध्ययन करनेके बादमें भी ऋचाओं और यजुषोंका अध्ययन नहीं करना चाहिये; क्योंकि केवल आरण्यक-अध्ययनसे ही अध्येता-श्रोताका मन वेदपरितृप्त हो उठेगा—इसी कारण ऋचाओं और यजुषोंका आरण्यकके अनन्तर, पाठ निषिद्ध है। जब आदमीका पेट भर जाता है, तो उसे अमृत भी नहीं रुचता। यहाँ आये 'वेदके अन्त आरण्यक' से ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक आरण्यकों का ग्रहण ही इष्ट है, क्योंकि ये आरण्यक ही ब्राह्मणात्मक वेदके अन्त-अवयव हैं। सामारण्यकके मंत्र तो मंत्रभागके मध्यमें हैं। इस कारण वे वेदके अन्तिम भाग नहीं माने जायेंगे—अतः उनका ग्रहण भी नहीं होगा। श्लोकके पूर्वार्धमें आये 'सामध्वनौ' पदमें ही सामारण्यकका ग्रहण हो गया है; इसीलिए कहा गया है कि सामारण्यकके अध्ययनके अनन्तर ऋक् और यजुष् मंत्रोंका पाठ नहीं करना चाहिये।

---

१. मनुस्मृति ४.१२३।

इस प्रकारसे वेदोंमें बहुश्रुत आरण्यक वेद हैं; और इसी आधार पर उनकी प्राचीनता भी किसी प्रत्यक्ष बाधाके अभावमें अकाट्य और अक्षत है।

यह सभी विद्वान् मानते हैं कि ऐतरेयक और पञ्चमारण्यक इत्यादि वेद नहीं हैं; जैसाकि सायणाचार्यका कथन है—**'महाव्रतस्य पञ्चविंशतिमित्यादि पञ्चमारण्यकं सूत्रमेव; अरण्ये एवैतदध्येयमित्यभिप्रेत्याध्येतार आरण्यकाण्डेऽन्तर्भाव्याधीयते।'**—'महाव्रतका पंचविंशति इत्यादि पञ्चमारण्यक सूत्र ही है। अरण्यमें ही अध्ययन करनेके अभिप्रायसे अध्येतागण आरण्यकाण्डमें अन्तर्भाव करके इसका अध्ययन करते हैं।' अतः जैसे मंत्र भागमें श्रीसूक्त इत्यादि खिल उसके अङ्गरूपमें सम्मिलित नहीं हैं, वैसे ही ब्राह्मण-भागमें पञ्चमारण्यक प्रभृतिकी स्थिति है—ये ब्राह्मण भागके अवयव नहीं हैं। न तो वेद हैं और न ही प्राचीनतम; हाँ, इनके अतिरिक्त वेदात्मक उपनिषदों और आरण्यकोंकी वेदता और प्राचीनताको कोई आघात नहीं पहुँचा सकता।

उपनिषद्-विचार

कुछ आधुनिक विद्वानोंका मत है कि पाणिनीय सूत्रोंमें कहीं भी वेदांशवाचक 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग नहीं दिखायी देता; अतः पाणिनिसे पहले उपनिषदें नहीं थीं। हमें यह विचार बड़ा विस्मयकारक प्रतीत होता है; क्योंकि पाँचों संहिताओं और ब्राह्मणोंमें अनेक ऐसे वचन हैं, जिनमें ईशावास्य आदि उपनिषदोंके लक्षणोंका उल्लेख हुआ है।

पाणिनिको उपनिषदोंका ज्ञान था—

भगवान् पाणिनिने 'उपनिषद्' शब्दकी सिद्धि हेतु कोई विशेष उद्भावना नहीं की, केवल इसी आधार पर उपनिषदोंको आधुनिक बताना आँखवालोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेके सदृश है। एक सर्वतोमुखी सूत्रकार आचार्य प्रत्येक पदकी सिद्धिके लिए अलग-अलग सूत्रोंकी रचना नहीं करता। इसका यथार्थ समाधान यह है कि जब सामान्य नियमसे ही 'उपनिषद्' शब्द सिद्ध हो गया तो पाणिनिने नवीन सूत्रकी रचना करना व्यर्थ समझा। इस विषयमें उन्हें विशेष कुछ कहना भी न था। ऋगयनादिगण[1] और वेतनादिगण[2] में 'उपनिषद्' शब्दका पाठ भी हुआ है। सम्प्रति प्रचलित गणपाठको अपाणिनीय मानने पर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि पहले कोई गणपाठ था; अन्यथा आचार्य **'ऋगयनादिभ्यः'** और **'वेतनादिभ्यः'** आदि सूत्रोंमें 'आदि' शब्दका प्रयोग ही क्यों करते! अतः उक्त प्राचीन गणपाठकी सत्ता मानने पर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जो उसमें उप-

---

१. देखिये, **'ऋगयनादिभ्यः'**—पा० सू० ४.३.७३।

२. देखिये, **'वेतनादिभ्यो जीवति'**—पा० सू० ४.४.१२।

निषदोंके अस्तित्वका निषेध करे। ऋगयनादिको आकृतिगण माननेपर भी यह सिद्ध नहीं होता कि पाणिनिको 'उपनिषद्' शब्दका ज्ञान नहीं था, क्योंकि विनिगमनका अभाव नहीं है। पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि पाणिनिको 'उपनिषद्' शब्दका ज्ञान होता तो वे **'वेतनादिभ्यः'** न कहकर **'उपनिषदादिभ्यः'** कहते। यह वास्तवमें कुतर्क ही है। यह तो ठीक ऐसा है, जैसे कोई कहे कि पाणिनिको **'वेतनादिभ्यः'** कहने पर भी वेतनका ज्ञान नहीं था!

यदि कोई इस आधारपर कि पाणिनिने कहीं वेदांशवाचक 'उपनिषद्' शब्दका उल्लेख नहीं किया है, उपनिषदोंको पाणिनिसे उत्तरवर्ती माने तो कहना होगा कि ऐसा उल्लेख तो कात्यायन और पतञ्जलिने भी नहीं किया है—फिर क्या उपनिषदें महाभाष्योत्तर हैं? किम्बहुना, किसी आधुनिक व्याकरणमें भी 'उपनिषद्' शब्दकी सिद्धिके लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है;—इसी आधार पर क्या यह कहना उपयुक्त है कि आज तक भी किसी उपनिषद्का आविर्भाव नहीं हुआ? यदि कोई ऊपर आयी बातों पर श्रद्धावान् है, तो उसे इसपर भी श्रद्धा करनी चाहिये—यही हमारा कथन है।

वास्तवमें इस समय जितनी उपनिषदें प्रचलित हैं, वे सभी वेदोपनिषदें ही नहीं हैं। उनमेंसे कई उपनिषदें वेदज्ञोंके द्वारा वेदार्थ-तत्त्वज्ञानके लिए उनके शिष्योंके समक्ष उपदिष्ट हैं; वे भी उपनिषदोंके समान ही हैं, इसी कारण शिष्टजनोंने उन्हें भी उपनिषद्के रूपमें ग्रहण कर लिया। 'रामतापिनी' आदि ग्रन्थोंका प्रणयन कुछ अर्वाचीन लोगोंने अपने सम्प्रदायकी मर्यादा-वृद्धिके लिए किया है—उन सम्प्रदायोंके अनुयायी उन्हें भी उपनिषद् ही मानते हैं; 'अल्लोपनिषद्' इत्यादि तो सर्वथा अग्राह्य हैं, किन्तु जो मंत्र-ब्राह्मणात्मक उपनिषदें हैं, वे पाणिनिके जन्मसे बहुत पहले भी थीं। उनमेंसे भी कई उपनिषदें, जो वेदज्ञोंके द्वारा उपदिष्ट हैं और जिनकी मान्यता उपनिषदोंके तुल्य है, भी पाणिनिसे बहुत पूर्ववर्ती हैं—इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है। इस विषयमें विस्तृत तथ्य इस प्रकारसे हैं—

(१) **'जीविकोपनिषदावौपम्ये'**[1] पाणिनीय सूत्रसे औपम्य गम्यमान होने पर ही 'जीविका' और 'उपनिषद्' शब्दोंमें गतिसंज्ञाका विधान होता है। गतिसंज्ञा होने पर **'कुगतिप्रादयः'**[2] सूत्रसे समास हो जाता है। भट्टोजिदीक्षितने अपनी 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' में **'जीविकाम् इव कृत्वा'** विग्रहसे **'जीविकाकृत्य'** पद और **'उपनिषदम् इव कृत्वा'** विग्रहसे **'उपनिषत्कृत्य'** पदका उदाहरण दिया है, दीक्षितजीने **'समासेऽनञ्पूर्वोक्तो**

---

१. पा० सू० १.४.७९।

२. वही २.२.१८।

ल्यप्'[1] से ल्यप् भाव और उसका समासफल दिखाया है। सभी वैयाकरण यह मानते हैं कि इसका (उपनिषत्कृत्यका) अर्थ 'उपनिषद् ग्रन्थके सदृश ग्रन्थ-रचनाके अनन्तर' है। अतः केवल इतना ही नहीं कि पाणिनिको प्राचीनतम उपनिषद्विषयक ज्ञान था, प्रत्युत यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि उन्हें उन ग्रन्थोंका भी ज्ञान था, जो रचना, स्वर अथवा तात्पर्यसे पाणिनिके पूर्व वेदों और उपनिषदोंके द्वारा उपनिषदोंके तुल्य माने गये। अब तो यहाँ तक सिद्ध हो गया है कि कुछ कृत्रिम उपनिषदें भी पाणिनि-कालके पहले ही अस्तित्वमें आ गयी थीं। फिर प्रकृत उपनिषदोंके सम्बन्धमें क्या सन्देह हो सकता है!—सुधीजन स्वयं ही विचार करें।

(२) एक और सूत्र है—**'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'**[2]—इसका रचयिता यदि पाणिनिको माना जाये तो यह स्वीकार करना होगा कि उन्हें भिक्षुसूत्रोंके अस्तित्वका ज्ञान था। यह सूत्रग्रन्थ (ब्रह्मसूत्र) वेदान्त-दर्शनका मूल आधार है; और इस सूत्रग्रन्थकी आधारभूत उपनिषदें ही हैं—अतः यह निश्चित है कि पाणिनिको उपनिषदोंका ज्ञान भी अवश्य ही था।

(३) और जो यह मानते हैं कि निरुक्तकार यास्क पाणिनिके पूर्वज हैं, उनके प्रबोध-हेतु हम यह स्मरण कराते हैं कि **'यत्रा सुपर्णा'**[3] मंत्रकी अधिदैवत व्याख्याके पक्षमें यास्कका कथन है—**'इत्युपनिषद्वर्णो भवति'**[4]—इस पर दुर्गाचार्यका भाष्य है—

'यया ज्ञानमुपगतस्य सतो गर्भजन्मजरामृत्यवो निश्चयेन सीदन्ति, सा रहस्यं विद्या उपनिषद् इति उच्यते; उपनिषद् भावेन वर्ण्यत इति उपनिषद् वर्णः।'

—जिस ज्ञानको प्राप्त करनेके बाद गर्भ, जन्म, जरा और मृत्यु निश्चित रूपसे समाप्त हो जाती है, उस रहस्यविद्याको ही उपनिषद् कहा जाता है। उसका वर्णन उपनिषद् भावसे किया जाता है, इसलिए वह उपनिषद्वर्ण है।

और जब पाणिनिसे पहले उत्पन्न होनेवाले यास्कको उपनिषद्का ज्ञान था तो पाणिनिको क्यों नहीं होगा?

वेद-रचनाकाल की अनिर्णेयता

अब यह प्रश्न भी स्वतः उठता है कि क्या वेदके उत्पत्तिकालका निर्णय कर पाना हमारे लिए सम्भव है?

---

१. पा० सू० ७.१.७३।
२. वही ४.३.११०।
३. ऋ० सं० २.२.१८.१।
४. निरुक्त ३.२६।

हम देखते हैं कि कालिदास प्रभृतिके प्राचीन ग्रन्थोंका काल-निर्णय भलीभाँति हो चुका है; पृथ्वी-गर्भसे निकले अत्यन्त प्राचीन शिलालेखोंके कालका निर्णय भी हो रहा है और वेदोत्पत्ति-कालका निर्णय करनेका प्रयास भी कुछ सुधीजनोंने किया ही है—इसलिए हम भी आशान्वित हैं कि वेदका काल-निर्णय करना शक्य है। जब हमें मीमांसकोंके वेद की अपौरुषेयताका सिद्धान्त याद आता है; जब हम पढ़ाते हैं—**'नित्यावागुत्सृष्टा स्वयंभुवा'**—

तथा—

'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थम् ऋग्यजुः सामलक्षणम्॥'

और ये स्मृति-वचन—

'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'।

—इन्हें देखने पर और वेदकी अपौरुषेयता पर विचार करनेसे हम हताश हो उठते हैं। यदि इन्हें (वेदोंको) कृतक ही मान लें, तब भी ये मनुष्य-रचित न होनेके कारण वायु आदिके तुल्य हैं, अतः अनुसन्धानका कोई फल नहीं। और यदि मानव-कृत ही मान लें, तब भी अनाधुनिक होनेके कारण इसका निर्णय करना सम्भव नहीं कि किस व्यक्तिने इनकी रचना की। अतः वेदोत्पत्ति-कालका निर्णय असम्भव ही प्रतीत होता है।

वेद आर्योंका आदि धर्मग्रन्थ है और आदि धर्मग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध ग्रन्थोंके विषयमें कुछ-न-कुछ लोकोत्तर प्रवाद भी होते ही हैं। वेदके सम्बन्धमें भी यह प्रवाद है कि 'किसी भी पुरुषने वेदकी रचना नहीं की।' कर्मशक्तिके अनुसार फल-प्राप्ति माननेवाले मीमांसकोंकी दृष्टिमें ईश्वर-विषयक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं; इन मीमांसकोंने भी वेदको सर्वथा अनादि प्रतिपादित करनेकी बड़ी चेष्टा की है, जैसे—**'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या'** और **'अनित्यदर्शनाच्च'** इन दो सूत्रोंके द्वारा पूर्वपक्षकी कल्पना कर बादके इन चार सूत्रों[1] में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया है—

१. **उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्**
२. **आख्या प्रवचनात्**
३. **परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्**
४. **कृते वा विनियोगः स्यात् कर्म्मणः सम्बन्धात्'**

---

१. मी० द० १.१.२९–३२।

इन्हीं सूत्रोंके आधार पर 'शास्त्रदीपिका' आदि ग्रन्थोंमें बहुत विचार करनेके उपरान्त अन्तमें यही निर्णय दिया गया है कि वेद अपौरुषेय हैं।

भगवान् बादरायणने एक सूत्रमें कहा है कि वेद ब्रह्मका कार्य है—**'शास्त्रयोनित्वात्'**[1] —अर्थात् ऋग्वेदादि शास्त्रोंका मूल (कारण) होनेके कारण ब्रह्म सर्वज्ञ है। इसपर भी यह बात यथावत् है कि वेद अपौरुषेय है और वायु इत्यादिके तुल्य है। इसपर कोई आँच नहीं आती; क्योंकि इनकी रचना मनुष्यने नहीं की। काल-निर्णयके लिए अनुसन्धान करने और न करनेका फल समान है। मनुष्य-प्रणीत ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थोंका काल-निर्णय करना सम्भव नहीं है—अतः उक्त दिशामें प्रेक्षावान् विपश्चित् अपनी वाणीका प्रयोग नहीं करते। कौन मरणाधर्मा पुरुष यह निर्णय कर सकता है कि यह सृष्टि कब हुयी? आदि सृष्टिका वर्णन करना तो मात्र अपनी कल्पना-शक्तिका परिचय देना है। पृथिवीकी आभ्यन्तरिक पर्तें देखकर सृष्टिका काल-वर्णन करना अपनी बुद्धि-सामर्थ्यका ही परिचय देना है। पुराणोंमें आयी सृष्टि विषयक कथाएँ भी एक प्रकारकी नहीं हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे कल्पना-प्रसूत हैं। कल्पभेदसे (परस्पर) विरुद्ध वचनोंकी मीमांसा करने पर भी सृष्टिके आदिकालका निर्णय करना संभव नहीं है। सृष्टिके विषयमें ब्राह्मणादि ग्रन्थोंमें वर्णित तत्वोंको यथावत् मानने पर भी बुद्धिमान् व्यक्तिके अन्दर संशय उत्पन्न होता है। वेदार्थकी दृष्टिसे उपयोगी मीमांसादर्शनमें भी ब्राह्मणगत उन आख्यायिका-वचनोंको काल्पनिक माना गया है, जिनमें सृष्टिका प्रतिपादन हुआ है। **'बबरः प्रावाहणिरकामयत'** इत्यादि श्रुतियोंमें आये बबर सदृश अनित्य अर्थोंके संयोगसे वहीं वेद अर्वाचीन न मान लिये जायें—इस आशंकासे यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि 'यहाँ 'बबर' शब्द इस नामके अनित्य पुरुषका वाचक नहीं है, प्रत्युत यह शब्दानुकृति है—'ब—ब—र—'। यहाँ यही ध्वनि करनेवाली वायुका कथन है—वायु 'ब बर' ध्वनि करती हुई प्रकर्षपूर्वक बहती है। इसी प्रकारसे अन्यत्र[2] भी समझना चाहिये। निरुक्तकार यास्कने भी उक्त प्रकारके समस्त ब्राह्मण-वचनोंको अत्यधिक आदरके साथ प्रमाण रूपमें नहीं स्वीकार किया है। उनका कथन है—**'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति**[3]।' वास्तवमें वैदिक सृष्टिके विवरण प्रायः रूपक हैं—यह केवल ऐतिहासिकोंके सन्तोष करनेकी बात नहीं है। इसीलिए आदि सृष्टि-कालका निर्णय न हुआ है, न होता है और न होगा। ऋग्वेदके एक मंत्रमें कहा गया है—

'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वं इदं जगत्[4]**॥'**

---

१. ब्रह्मसूत्र १.१.३।
२. द्रष्टव्य : मीमांसादर्शन १.२.५०।
३. निरुक्त ७.७.२।
४. ऋ० सं० ८.८.३१.४।

——द्युलोक ध्रुव है, पृथिवी ध्रुव है, ये पर्वत ध्रुव हैं और यह समस्त जगत् भी ध्रुव है। तथा——**'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे**[1] **।'**

——शब्द और अर्थका सम्बन्ध सिद्ध है।

और——**'सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी सिद्धमाकाशम्**[2] **।'**

—द्युलोक सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है।

पतञ्जलिके अनुसार 'सिद्ध' शब्दका अर्थ यहाँ नित्य है——**'नित्य पर्यायवाची सिद्ध शब्दः**[3] **।'**

वेद भी नित्य है——अतः उसके रचनाकालका निर्णय भी नहीं किया जा सकता।

यास्कने यह पुरावाद उठाया है——

'साक्षात्कृत धर्माणो ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्त-सम्प्रादुः, उपदेशेन ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च[4]**।'**

इस प्रकारसे यह सिद्ध हो गया कि वेद आम्नात और आर्ष हैं। ऋषि भी हमसे पूर्ववर्ती मनुष्य ही हैं। इसपर भी वेदका काल-निर्णय सम्भव नहीं है क्योंकि आम्नात और कृत (रचित)के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। 'आम्नात' कहने पर यह ज्ञात नहीं होता कि उसकी रचना की गयी; आम्नातसे अभ्यस्त होनेका बोध होता है। धातु-पाठमें तम्ना' धातुका अर्थ अभ्यास बताया गया है। अभ्यास तो उसीका होता है, जो पहलेसे विद्यमान हो। अतएव प्राचीन मनीषियोंका यही मत है कि वामदेव्य आदि सामोंको वामदेव प्रभृति ऋषियोंने केवल देखा भर है, न कि रचा है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शनोंमें भी वेद-प्रामाण्य मान्य है; परन्तु वहाँ न तो वेद ईश्वरकृत माने गये हैं और न अकर्तृक; प्रत्युत उन्हें आप्त ऋषियों द्वारा रचित ही बताया गया है; जैसे वैशेषिक में——

१. **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे, ब्राह्मणे संज्ञा कर्मसिद्धिर्लिङ्गम्**[5] **।'**

२. **'आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः**[6] **।'**

३. **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्**[7] **।'**

---

१. कात्यायन, वार्तिक सूत्र १।

२. पातञ्जल महाभाष्य, पस्पश, १.१.१।

३. वही, पस्पश।

४. निरुक्त १.६.५।

५. वैशेषिक सूत्र ६.१.१.२।

६. वही ९.२.१३।

७. वही १०.२.१०।

इसी प्रकारसे अन्यत्र भी। यास्कने भी कुछ मंत्रोंको ऋषिकृत बताया है--

१. 'विश्वामित्र ऋषिः...नदीस्तुष्टाव गाधा भवतेति[1]।'

२. 'ऋषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते[2]।'

३. 'गृत्समदममर्थभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे, तदभिवादिन्येषा ऋक् भवति[3]।'

कुछ ब्राह्मण-वाक्योंसे भी ज्ञात होता है कि मंत्र ऋषिकृत हैं; जैसे--'स्पर्ष ऋषिर्मन्त्रकृत्[4]।' कुछ मन्त्रोंकी समालोचनासे भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदोंकी रचना बुद्धिमान् पुरुषोंने की; विशेष रूपसे कहीं कहीं तो यह मंत्रोंसे ही ध्वनित होता है कि उन्हें बहुत-से पुरुषोंने रचा; जैसे--

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि[5]॥'

इस प्रकारसे यह निश्चित हो गया कि हमारे पूर्वज ऋषियोंने वेदोंका प्रणयन किया; किन्तु यह होने पर भी आधुनिक न होनेके कारण इनका काल-निर्णय करना असम्भव है।

'नैरुक्तालोचन' में हमने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि आचार्य पाणिनि इस युगकी प्रथम सहस्राब्दीमें उत्पन्न हुये; क्रमकार बाभ्रव्य आदि उनसे पहले हुये; पदकार शाकल्य बाभ्रव्यसे भी प्राचीन हैं; 'ऋक्तन्त्र' प्रभृति ग्रन्थोंके रचयिता शाकटायन आदि उनसे भी पुरातन हैं; नवयुगारम्भमें जन्मे लाटयायन आदि कल्पसूत्रकार उनसे भी पहले हुये (तभी नया कल्प प्रारम्भ हुआ--यह कथन तत्कालीन कल्पादि ग्रन्थोंका होनेके कारण असंभव नहीं प्रतीत होता)। इस युगारम्भसे पहले ही कुसुरुविन्द इत्यादि ऋषियोंने अनुब्राह्मणों की रचनाकी। इससे भी पूर्व युग या कल्पमें महिदास आदि आचार्योंने श्लोक, अनुश्लोक और गाथाओंका संग्रहकर ऐतरेय प्रभृति ब्राह्मण सर्जे। इससे भी पुरातन कालमें वे प्रवाद फैल चुके थे, जिन्हें आज श्रुति कहा जाता है। इससे भी पहले यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ हो चुके थे, तभी आथर्वण अथवा व्यास ऋषिने एक ही प्रयत्नसे चार संहिताओंका संकलन किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूक्तों और मण्डलोंका संग्रह और पहले हो चुका था। उससे भी पहले अनेक ऋषियोंने विविध उच्चावच अभिप्रायोंसे

---

१. निरुक्त २.७.२।
२. वही ५.१.२।
३. वही ९.१.४।
४. ऐत० ब्रा० ६.१.१।
५. ऋ० सं० ८.२.२३.२।

प्रभूत मंत्रोंका प्रणयन कर दिया था। इस मंत्र-प्रणयनमें सुदीर्घकाल लगा था। इस प्रकारसे अनेक युगोंके पूर्व ही मन्त्र-रचना आरम्भ हो चुकी थी; उसका काल-निर्णय करनेमें आधुनिक जन कैसे समर्थ हो सकते हैं ? आधुनिक कालके विपुल मेधावी लोगोंकी प्रतिभा भी इतने प्राचीन वेदोंके काल-निर्णयके तथ्य कैसे पा सकती है ? काल-निर्णय व्यक्ति-निर्णय पूर्वक होता है और यहाँ व्यक्तिका निर्णय करना सम्भव नहीं है; क्योंकि यह कहीं नहीं लिखा है कि अमुक मंत्रकी रचना अमुक व्यक्तिने की। 'दृष्ट' शब्दका आशय यदि 'कृत' मान भी लें, तब भी व्यक्ति (रचनाकार) का निर्णय करना सरल नहीं; जैसे 'अग्निने देखा'—यहाँ 'अग्नि' संज्ञाका आधार शून्य है और वह प्रायः कल्पित समझा जाता है। उदाहरणके लिए सूर्यवंशी क्षत्रियोंका आदिपुरुष सूर्य है, यह शब्दतः प्रतीत होता है किन्तु प्रतिदिन उदय होनेवाले दिनमानके वीर्यसे ही उक्त वंशका जन्म हुआ है—यह बात बुद्धिमान् व्यक्ति कैसे स्वीकार कर लें ? फिर भी, उक्त वंशके आदिपुरुषके वास्तविक नामका ज्ञान न होनेसे सौर्यत्वके आधार पर कल्पित नाम सूर्य ही स्वीकार करना होगा। वही बात यहाँ भी है। **'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्'**[1] इत्यादि श्रुतियोंमें भी यही कहा गया है। इसका विशेष तात्पर्य भी हो सकता है। निष्कर्ष यह कि रचनाकार व्यक्तियोंका निर्णय सम्भव न होनेसे मंत्रकालका निर्णय भी नहीं किया जा सकता।

'अर्च्चिषि भृगुः सम्बभूव'[2] निर्वचनके अनुसार वंशोंके आदि नाम रूपक हैं; इनके पीछे विशिष्ट अभिप्राय निहित हैं—यही हमारा अनुमान है। अब यदि 'दुर्जनतोष' न्यायसे हम यह मान लें कि कोई भृगु नामक महर्षि उत्पन्न हुए और उन्होंने ही 'भार्गव' सूक्तकी रचना की—इससे भी व्यक्तिका निर्णय नहीं किया जा सकता। किसे पता है कि भृगु कौन थे और उन्होंने कब इस धराको अलंकृत किया ? इसी प्रकारसे जहाँ कहीं 'वशिष्ठ' नाम आया है, वहाँ भी रचनाकालका निर्णय करना सम्भव नहीं है। कौन जानता है कि आदि वशिष्ठ कब उत्पन्न हुए ? इडा आदि भृगुओं और इन्द्रप्रमिति प्रभृति वशिष्ठोंके द्वारा साक्षात्कृत सूक्तोंका उद्भवकाल भी तिमिराच्छन्न है। वहाँ भी काल-निर्णायक तथ्य नहीं मिलते और न लोकमें यह व्यवहार अथवा नियम ही प्रचलित है कि आदि भार्गवको ही भार्गव कहा जायेगा; आदि वशिष्ठको ही वशिष्ठ समझा जायेगा। वस्तुतः वेदमें काश्यपवाणी है किन्तु ऐसा नहीं कि पृथ्वी पर एक ही काश्यप उत्पन्न हुआ—मैं काश्यप हूँ, मेरा बेटा भी काश्यप है और मेरा पौत्र भी काश्यप होगा। इसी प्रकारसे भारद्वाज आदि नाम भी हैं। अतः नाम-विवेचनसे मंत्र-रचना-कालका निर्णय करनेका प्रयत्न व्यर्थ है।

ये निर्णय भी विद्वानोंके ही हैं—अब तक प्राचीन ग्रन्थोंके विषयमें जितना अनुसन्धान

---

१. म० सं० १.२३।

२. निरुक्त ३.३.५।

हुआ है, उन सभीमें मंत्रभागको निश्चित ही प्राचीनतम माना गया है; कोई भी पुरातत्त्वका अन्वेषी यह नहीं कह सकता, नहीं कहता कि इससे भी पहले कोई ग्रन्थ रचा गया। (सबका यही कथन है कि) इसके विपरीत निगम कल्पतरुकी बहुतसी शाखाएँ प्रलयके वात्या-चक्रमें लुप्त हो गयीं। यह सभी मानते हैं कि एक ही ऋग्वेदकी बहुतसी शाखाएँ हैं। अति प्राचीन निरुक्तकार यास्कने भी पाँच प्रकारकी शाकलशाखा ही देखी थी; दूसरी नहीं —निरुक्तमें अनेक बार 'दशतयी' का उल्लेख हुआ है। सभी शाखाएँ दस मण्डलात्मक नहीं थी, अतः उनका नाम भी 'दशतयी' नहीं हो सकता। शुक्लयजुर्वेद की सम्प्रति प्राप्त काण्व, माध्यन्दिन और मैत्रावरुण शाखाओंमें अध्यायगत अन्तर है ही—इसी तरह अवश्य ही वहाँ भी अन्तर होगा, अतः ऋग्वेदकी सभी शाखाएँ 'दशतयी' कदापि नहीं हो सकतीं। यास्कके जन्मसे बहुत पहले ही अन्य शाखाएँ एक-एक करके नष्ट हो गयीं—यह अनुमान असंगत नहीं। विचारणीय यह है कि मंत्रकाल यास्कके समयसे कितना प्राचीन है। अतः यही निश्चित होता है कि रचयिताओंका निर्णय न होने से मंत्र-भागका काल-निर्णय हमारे सदृश आधुनिक लोगोंके लिए सर्वथा असम्भव है।

ब्राह्मणों का भी काल-निर्णय सम्भव नहीं--

मंत्रवत् ब्राह्मण-ग्रंथोंका काल-निर्णय करनेके प्रत्यनमें हम सफल नहीं हैं। लोक अथवा शास्त्रमें इनका काल-निर्णय करानेवाली कोई घटना ही नहीं दिखायी देती। सभी युगान्तरीय ग्रन्थोंके काल-निर्णयके विषयमें हम यह नहीं कह सकते कि अमुक साल इसकी रचना हुई। मंत्र और ब्राह्मणभागका भलीभाँति समीक्षण करनेके बाद इतना कहा जा सकता है कि मंत्रोंकी तुलनामें ब्राह्मणभाग उत्तरकालीन है। यह भी निःशङ्क निर्णय किया जा सकता है कि अमुक मंत्रसे अमुक मंत्र परकालीन है, इसकी तुलनामें अमुक मंत्र प्राचीन है; अमुक ब्राह्मण-वाक्यसे अमुक ब्राह्मण-वाक्य परवर्ती है किन्तु हमारे लिए यह बोधगम्य नहीं है कि अमुक मंत्रग्रन्थ अथवा ब्राह्मणग्रन्थ अमुक युगके अमुक वर्षमें रचा गया अथवा संकलित किया गया। अतएव मंत्रभागकी ही भाँति ब्राह्मणभागको भी सम्प्रति अनादि मान लेना ही ठीक है।

ऐतरेय ब्राह्मणकी भाष्य-भूमिकामें सायणाचार्यने यद्यपि यह प्रवाद प्रस्तुत किया है कि इतराके पुत्र महिदासने भूमिदेवतासे वर पाकर ऐतरेय ब्राह्मणका प्रवचन किया, तथापि इस ब्राह्मणका काल-निर्णय हम नहीं कर सकते। प्रस्तुत प्रवादसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इतरा नामसे प्रसिद्ध किसी ऋषि-पत्नीके पुत्रने ऐतरेय ब्राह्मणका प्रवचन किया; किन्तु इससे यह व्यञ्जित नहीं होता कि अमुक युगमें ,अमुक वर्षमें उक्त ऋषि-पत्नीने ऐतरेय ब्राह्मणके प्रणेता महिदासको जन्म दिया। और ऐतरेय ब्राह्मण सदृश

ग्रन्थके काल-निर्णय हेतु इस प्रकारके प्रवादोंका आश्रय लेना भी विशाल महासागरको पार करनेके लिए काश या कुशका सहारा लेनेके समान है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में कहा गया है—**'एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषेयो जनमेजयं पारिक्षितमभिषिषेचः; तस्माद्धु जनमेजयः पारिक्षितः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे। तदेषाभियज्ञगाथा गीयते—आसन्दीवति धान्याढ्यं रुक्मिणं हरितस्रजम्। अश्वं बबन्ध सारङ्गः देवेभ्यो जनमेजयः'।**'

'ताण्ड्य महाब्राह्मण' में—**'जनमेजयश्चार्बुदो ग्रावः।'**

इन वचनोंके आधार पर कोई यदि यह कहे कि अर्जुनके प्रपौत्र जनमेजयके बहुत दिन बाद इन ऐतरेय ब्राह्मणादि ग्रन्थोंकी रचना हुयी और इस प्रकारसे अन्यूनयुधिष्ठिरसंवत्की द्वितीय शिताब्दीमें इसका प्रणयनहुआ तथा वही इसका काल है, तो वह अवश्य भ्रमके आवर्त्तों-से घिर जायेगा क्योंकि ऐतरेय आदि ग्रन्थोंको अगर युधिष्ठिर संवत्की द्वितीय शताब्दीमें रचित मानेंगे तो वे पाणिनिके समकालीन हो जायेंगे। हमने अपने 'नैरुक्तालोचन' में पाणिनिका काल भी युधिष्ठिर संवत्की द्वितीय शताब्दी ही निश्चित किया है। अतः इसे नहीं माना जा सकता, क्योंकि पाणिनीय व्याकरणमें ही यह माना गया है कि ब्राह्मण ग्रन्थोंका प्रवचन अत्यन्त प्राचीनकालमें हुआ। समकालिक ग्रन्थोंके विषयमें 'प्रोक्त' नहीं कहा जाता और न ही उनकी वैदिकता मान्य होती है।

हमारे मतमें, पुराकल्पमें भी (कोई) परीक्षित और जनमेजय हुए—उनकी नामश्रुतिके अनुसार ही अभिमन्युके बेटेका नाम परीक्षित पड़ा और परीक्षितके पुत्रका जनमेजय। जैसे भागवत आदि ग्रन्थोंमें आये 'सत्यव्रत' नामके आधार पर ही मेरा भी यह नाम पड़ा, न कि मेरे नामकरणके बाद भागवत आदिका प्रणयन हुआ। इसी प्रकारसे वंग-कवि वङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्यायकी लेखनीसे निकले 'कपालकुण्डला' आदि नाम सम्प्रति बहुतसी वंग-महिलाओंके हैं। यही समाधान यहाँ ग्राह्य होना चाहिये—अन्यथा वेदोंमें आये 'भोज'[२] नामके आधारपर उव्वट, जो भोजका समकालीन है, को भी वेदका समकालीन मानना पड़ेगा। यदि नाम-दर्शनसे ही काल-निर्णय सम्भव है, तो क्या उक्त वेदोंके आवि-र्भावकालमें ही वज्रटका पुत्र वेदभाष्यकार उव्वट भी उत्पन्न हुआ? यदि हम यहाँ 'नहीं' कहते हैं तो सर्वत्र भी ऐसा ही मानना होगा। यह कैसे हो सकता है कि मुर्गीके एक हिस्सेको पका लिया जाये और दूसरेके विषयमें यह सोचा जाये कि वह अण्डा दे?

---

१. ऐत० ब्रा० ८.४.७।

२. (१) **'भोज्यस्येदं पुष्करिणीव वेश्म'**—ऋ० सं० ८.६.४.५।
(२) **'भोजं भोजपितरम्'**—ऐत० ब्रा० ८.४.३।
स्वयं उव्वटका भी कथन है—'मन्त्रभाष्यमिदं कल्प्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति।"

क्या शतपथ ब्राह्मणका ज्ञान पाणिनिको न था ?

कुछ लोग कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मण न केवल पाणिनिसे उत्तरवर्ती है, प्रत्युत उसकी रचना कात्यायनके समकालिक याज्ञवल्क्यने की। इसका प्रमाण यह पाणिनीय सूत्र है—**'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'**[1] तथा इस पर वार्तिक आदि।

यह कथन भी हमारे लिए अत्यन्त आश्चर्यजनक है, क्योंकि इसी सूत्र और तद्गत वार्तिकसे ही यह ज्ञात होता है कि शतपथकी रचना पाणिनिसे पहले हुयी। 'सिद्धान्त-कौमुदी' के अनुसार प्रकृत सूत्रका आशय इस प्रकारसे है—'तृतीयान्तसे प्रोक्तार्थमें 'णिनि' प्रत्यय होता है; पुराणप्रोक्त अर्थात् चिरन्तन मुनिके द्वारा प्रोक्त, जैसे 'भल्लु' से 'भाल्लविनः' या 'शाटचायन' से 'शाटचायनिनः।' कल्पमें—पिङ्गके द्वारा प्रोक्त पैङ्गीकल्प। 'पुराण' से क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ब्राह्मण, आश्मरथ कल्प।' विचार करनेकी बात है कि यदि पाणिनिको यह ज्ञात नहीं होता कि याज्ञवल्क्यप्रोक्त ब्राह्मण शतपथ है तो इसका यहाँ क्या प्रत्युदाहरण होना चाहिये ? अतिव्याप्ति-निवारणके लिए सूत्रमें प्रयुक्त 'पुराण विशेषण' कहाँ उपपन्न होगा ? यदि यहाँ यह मानें कि उनका आशय भविष्यमें होनेवाले शतपथ इत्यादि ग्रन्थोंसे है तो यहाँ सूत्रस्थ 'पुराण' शब्दकी अनुवृत्ति कैसे होगी ? वस्तुतः पाणिनिको जैसे पैंग्य आदि प्राचीन कल्पशास्त्रोंका ज्ञान था, वैसे ही आश्मरथ्यादिकका भी। अतएव 'प्रोक्त' के रूपमें यदि सभीका ग्रहण किया गया, तो अनर्थ होगा, इसीलिए प्राचीन कल्पोंमें भी 'णिनि' का विधान केवल उनके लिए किया गया है, जो पुराण-प्रोक्त हैं अर्थात् प्राचीनतम हैं। आश्मरथादिमें 'णिनि' प्रत्यय निषिद्ध है; समग्र कल्पशास्त्रसे प्राचीन और प्राचीनतर ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सर्वत्र ही 'णिनि'के निवारण-हेतु सूत्रगत 'पुराण' विशेषणकी सार्थकता है। 'पुराण' विशेषण रहने पर सभी प्राचीन ग्रन्थोंके लिए 'णिनि' निषिद्ध हो जायेगा। प्राचीनतम (पुराणप्रोक्त) ब्राह्मणोंके लिए 'णिनि'-विधानसे ही शाटचायनि ब्राह्मण इत्यादि रूप सिद्ध हुये हैं और जो शाटचायनिके बादमें प्राचीनतर ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं, उनके लिए 'णिनि' प्रत्ययका विधान नहीं हुआ, इसीलिए **'याज्ञ-वल्क्यं ब्राह्मणम्'** इत्यादि प्रयोग बने। तात्पर्य यह कि प्राणिनि अत्यन्त प्राचीन ब्राह्मणोंको ही पुराणप्रोक्त मानते थे, शेषको नहीं। 'पुराणप्रोक्त' से पाणिनिका अभिप्राय शतपथ ब्राह्मणसे भी प्राचीनतम ग्रन्थसे है।

इस सूत्रका वार्तिक भी हमारे मतको संपुष्ट करता है। वह वार्तिक है—**'पुराण-प्रोक्तेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्।'** जैसे शाटचायनादिप्रोक्त ब्राह्मण

---

१. पा० सू० ४.३.१०५।

और पिङ्गादिप्रोक्त कल्प पाणिनिसे पूर्वकालीन हैं, उसी प्रकारसे याज्ञवल्क्यादि प्रोक्त ब्राह्मण और आश्मरथादि प्रोक्त कल्प, सभी पाणिनिसे पूर्वकालीन होनेके कारण समकालीन होंगे तथा इन सभीमें 'णिनि' प्रत्यय लगने लगेगा—इसका निषेध करनेके लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिये, यही इस वार्तिकका अभिप्राय है। इस वार्तिककी रचनामें भगवान् कात्यायनका यही आशय निहित था कि अतिप्राचीन ब्राह्मणों और कल्पोंके विषयमें यह निर्णय करना संदिग्ध है कि कौन पुराणप्रोक्त है और कौन नहीं। इस संदेहसे निवारणका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। प्रश्न यह उठता है कि कात्यायनके समकालीन याज्ञवल्क्यने ही जब शतपथ ब्राह्मणकी रचना की, तो कात्यायनके लिए उसके विषयमें यह निर्णय करना कठिन कैसे हो गया कि शतपथ ब्राह्मण पुराण-प्रोक्त है अथवा नहीं ? फिर उन्होंने इस वार्तिककी रचना क्यों की ? वास्तवमें पाणिनिके समकालिक और पाणिनिके समान सुधीजनोंकी प्राचीनतम कृतियोंके विषयमें पौर्वापर्यका निर्णय करना जितना सुगम है उतना उनके परवर्ती कात्यायन आदिका भी नहीं—अतः उसी समय याज्ञवल्क्य आदिका परिगणन सोद्देश्य था, फिर आजकलके हमारे सदृश लोगोंकी क्या बिसात ?

इसका भाष्य भी हमारे मतका पोषक ही है। यथा—'**पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेष्वित्यत्र याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः। याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि, सौलभानीति। किं कारणम् ? तुल्यकालत्वात्; एतान्यपि हि तुल्यकालानीति।**'

—'पुराणप्रोक्त ब्राह्मणकल्प' से यहाँ शतपथ इत्यादि ब्राह्मणोंका प्रतिषेध समझना चाहिये क्योंकि याज्ञवल्क्यादि-कृत शतपथप्रभृति ब्राह्मण सुलभ थे। किसलिए ? समकालीन होनेके कारण। ये भी समकालिक हैं।

वहाँ जैयट-पुत्र कैयटका कथन है—'**तुल्यकालत्वादिति-शाटचायनादि प्रोक्तैर्ब्राह्मणैरेककालत्वत् इत्यर्थः।**' यद्यपि यहाँ वार्तिककारके मतका अनुमोदन ही भाष्यकारने किया है, फिर भी कोई हानि नहीं। नागेशभट्टके मतमें याज्ञवल्क्य आदिके द्वारा प्रोक्त शतपथ प्रभृति ब्राह्मण शाटचायनादिके समकालीन हैं अतः वहाँ भी 'णिनि' प्राप्त होती है—कात्यायनके वचनसे वहाँ 'णिनि' का निषेध हो गया। इस प्रकारसे भाष्यकारने कात्यायनके वचनोंका अनुमोदन ही किया है,[1] यथा—'**याज्ञवल्क्यानीति। कण्वादिभ्य इत्यण्। ते हि पाणिन्यपेक्षया आधुनिका इत्यभिमानः; भाष्ये तु शाटचायनादि तुल्यकालत्वाद्...वचनमारब्धम्—।**'

वास्तवमें भाष्य इससे पहले ही है—'**छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि**[2]।' यहाँ कहा गया है—'**वक्ष्त्येतत् 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्'—। तत्रैव**

---

१. द्रष्टव्य, लघुशब्देन्दुशेखर।

२. पा० ४।२।६६।

वक्तव्यम्; तद्विषयता च न भवतीति।' वहाँ कैयटका विचार है—'वक्षत्येतदिति। पुराणप्रोक्तेष्वित्यत्र।' इस प्रकारसे अतिप्राचीन ब्राह्मणों और कल्पोंमें जो पुराणप्रोक्त हैं, वहीं पाणिनिने 'णिनि' का विधान किया है; जो नूतनप्रोक्त हैं, वहाँ 'णिनि' का विधान ही नहीं है, अतः वार्तिक व्यर्थ है—यही भाष्यका अभिप्राय है। पाणिनिके समयमें भी अति-प्राचीन प्रसिद्धिवाले ग्रन्थोंको तत्कालीन शिष्टजन प्रोक्त कहते थे। वार्तिककारका मत है कि उन्हींमेंसे कौन पुराण-प्रोक्त हैं और कौन नहीं हैं—इसका निर्णय करनेके लिए ही परिगणन अवश्य करना चाहिये—'**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्**'-इस भाष्येष्टिके द्वारा उसका खण्डन करना ही उचित है—यही यहाँ सारांश है। इस प्रकारसे सूत्रकार, वार्तिककार और भाष्यकारके वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि याज्ञ-वल्क्य आदिके द्वारा प्रोक्त शतपथ इत्यादि ग्रन्थ शाटचायनिकी अपेक्षा अर्वाचीन होते हुए भी पाणिनिसे निश्चितरूपेण प्राचीनतम ही हैं।

यह हमारे विचारका विषय नहीं है कि वार्तिककार कात्यायनका समकालिक कोई याज्ञवल्क्य हुआ या नहीं? हाँ, शतपथ ब्राह्मणका प्रवक्ता याज्ञवल्क्य वार्तिककार कात्या-यनका समकालिक किसी भी स्थितिमें नहीं है। यह याज्ञवल्क्य पाणिनिका भी सम-कालिक नहीं है, प्रत्युत पाणिनि आदि जिस युगमें, जिस कल्पमें उत्पन्न हुए, उससे भी निः-सन्देह पूर्वकालिक है; शाटचायनादिका समकालीन न होने पर भी याज्ञवल्क्य ब्राह्मण-कालमें उत्पन्न हुए—यह सत्य है।

तैत्तिरीय प्रथमारण्यकमें आया '**स होवाच व्यासः पाराशर्यः**'[1] वचन यह सूचित करता है कि उक्त आरण्यक युधिष्ठिरके समसामयिक व्यासका उत्तरकालिक है—यह मत भी भ्रमपूर्ण है—भ्रमका कारण नाम है। युधिष्ठिरका समसामयिक पराशरवंशका था, न कि पराशरका बेटा; क्योंकि शतपथमें इस वंशका विवरण भिन्न है—'**घृतकौशिकः पाराशर्य्यायणात्, पाराशर्यायण पाराशर्यात्**[2]।' व्यास भी वंशनाम ही है। प्राचीनकालके आर्य गोत्र-नामोंसे ही परस्पर व्यवहार करते थे, न कि व्यक्ति-नामोंसे। इंगलैण्ड आदि देशोंमें यह पद्धति आज भी विद्यमान है। दक्षिण भारतके लोग भी अपने नामके साथ पिता-का नाम जोड़ देते हैं। अतः अनेक गोभिल, पराशर, व्यास, आश्वलायन, पाणिनि, शौनक और यास्क होनेके कारण पौर्वापर्यके निर्णयमें भ्रम होना स्वाभाविक ही है। चुल्लूभर पानीमें फड़फड़ानेवाली मछलीके समान कम ज्ञान रखनेवाले किन्तु ज्यादा बोलनेवाले हम लोग ही नहीं, प्रत्युत् विद्वानोंमें अग्रगण्य षड्गुरुशिष्य आदि भी इस स्थल पर भ्रम-जालमें फँस गये हैं। यास्कका काल-विवेचन करते हुये हमने 'नैरुक्तालोचन'में इसका

---

१. तै० आर० १.९.२।

कुछ निदर्शन किया है। अतः केवल नाम-दर्शन मात्रसे काल-निर्णय करना निश्चित रूपसे असम्भव ही है। कौथुम शाखाके हम लोगोंका गोभिल गृह्यसूत्र है; सामवेदके 'वंश-ब्राह्मण' में बहुतसे गोभिल आये हैं, यथा—**'पूषमित्राच्च गोभिलात् पूषमित्रो गोभिलोऽ-ऽश्वमित्राद् गोभिलात् अश्वमित्रो गोभिलो वरुणमित्राद् गोभिलाद् वरुणमित्रो गोभिलो मूलमित्राद् गोभिलान्मूलमित्रो गोभिलो वत्समित्राद् गोभिलाद् वत्समित्रो गोभिलो गौलगुलवीपुत्राद् गोभिलाद् गौलगुलवीपुत्रो गोभिलो बृहद्वसोः पितुर्बृहद्वसुगोभिलो गोभिलादेव गोभिलो।'**

—पूषमित्र गोभिलसे पूषमित्र गोभिल, अश्वमित्र गोभिलसे अश्वमित्र गोभिल, वरुणमित्र गोभिलसे वरुणमित्र गोभिल, मूलमित्र गोभिलसे मूलमित्र गोभिल, वत्समित्र गोभिलसे वत्समित्र गोभिल, गौलगुलवीपुत्र गोभिलसे गौलगुलवीपुत्र गोभिल, बृहद्वसु-पितासे बृहद्वसु गोभिल, गोभिलसे ही गोभिल।

'वंशब्राह्मण' की रचनाके बाद कितने गोभिल हुए—कौन गिन सकता है? आज हम कैसे निर्णय कर सकते हैं कि वंशब्राह्मणोक्त अथवा उसके बाद होनेवाले किस गोभिलने गोभिल गृह्यसूत्रकी रचनाकी? नाममात्र दिखाई पड़नेसे जब हम वेदाङ्ग सूत्रग्रन्थका काल-निर्णय करनेमें असमर्थ हैं तो वेद (मंत्रादि) का काल-निर्णय कैसे किया जा सकता है?

कुछ काल-निर्णेताओंने अथर्व संहिताके १९वें काण्डके सातवें सूक्तमें वृत्तिका नक्षत्रका उल्लेख पहले होनेसे यह अनुमान प्रकट किया है कि उसके प्रणयनकालमें वृत्तिका ही राशि-चक्रका प्रथम नक्षत्र था—और इसी आधारपर उनका कथन है कि इस मंत्रकी रचना साढ़े तीन या साढ़े चार हजार वर्ष पहले हुयी। यह मत भी हमें असंगत प्रतीत होता है। किसे पता है कि कृत्तिका नक्षत्र कितने बार राशिचक्रमें प्रथम स्थान पर रहा? कौन कह सकता है कि राशिचक्रके किस प्राथम्यमें अथर्ववेदकी रचना हुयी?

वास्तवमें कृत्तिका देवनक्षत्रोंमें प्रथम है और इसीलिए अन्य अनेक स्थलों पर भी उसका उपादान पहले होता है; जैसे—

१. **'कृत्तिकानक्षत्रमग्निर्देवता[1]।'**
२. **'कृत्तिकास्वग्निमादधीत'[2]।**
३. **'अग्निर्नः पातु कृत्तिका[3]।'**

---

१. तै० सं० ४.४.१०.१।
२. तै० ब्रा० १.१.२.५।
३. वही ३.१.१.१।

देव-नक्षत्रोंमें प्रथम होनेका विवरण इस प्रकारसे है—'**देवनक्षत्राणि वा अन्यानि यमनक्षत्राण्यन्यानि । कृत्तिकाः प्रथमं विशाखे उत्तमम् तानि देवनक्षत्राणि । अनुराधाः प्रथमम् अपभरणोरुत्तमम् । तानि यम नक्षत्राणि । यानि देवनक्षत्राणि तानि दक्षिणेन परियन्ति । यानि यमनक्षत्राणि तान्युत्तरेण...यान्येव देवनक्षत्राणि तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात् पुण्याह एव कुरुते**[1] ।'

अथर्ववेदके उपर्युक्त सूक्तमें ही '**भानुराश्लेषा अयनं मघा मे—**' आया है । अथर्व-संहिताके प्रणयनकालमें अयनारम्भ अश्लेषा नामक नक्षत्रकी शेष सीमासे होता था अथवा मघाकी आद्य सीमासे—यह स्वीकार करने पर भी पूर्वन्यायसे ही हमारे लिए वेद-प्रणयन-कालका निर्णय करना सम्भव नहीं है ।

वेदार्थ जाननेका उपाय

आर्य-धर्मके मूल, सर्वविद्यानिधान और 'विद्या' के नामान्तर वेदकी संहिताओंको समझनेके लिए ब्राह्मणग्रन्थोंका अध्ययन ही प्रमुख उपाय है; यास्ककृत निरुक्त विशेष ज्ञान करानेवाला है । भाष्यकार स्कन्दस्वामि, भवस्वामि, गुहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उव्वट भट्ट, भास्करमिश्र, भरतस्वामि, हरदत्त और माधवभट्टने भी मंत्र और ब्राह्मणों पर अपने भाष्य लिखे हैं । इनमेंसे प्रत्येकका भाष्य मेरे निकट एक-एक ग्रन्थ ही है । स्कन्दस्वामि आदिके रचनाकाल पर मैंने अपने 'नैरुक्तालोचन' में विचार किया है । इसके अनन्तर सायणाचार्यने भी सभी संहिताओं और ब्राह्मणों पर अपने भाष्य रचे हैं—वे अत्यन्त गहरे वेद-समुद्रमें हमारे सदृश लोगोंके विहार करनेके लिए नौकाके समान हैं । उनकी भूमिकाओंमें भी बहुतसे वेदतत्त्व प्रकाशित हुये हैं । वहाँसे मैं कुछ सञ्चित कर प्रस्तुत करता हूँ ।

ऋक्-संहिताकी भाष्य-भूमिकासे—

'विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारीके ज्ञानके बिना श्रोताकी प्रवृत्ति न होनेके कारण इनका निरूपण किया जाता है । व्याख्यानका विषय व्याख्येय वेद ही है । उसका अर्थज्ञान प्रयोजन है । व्याख्यान और व्याख्येय भाव सम्बन्ध हैं । ज्ञानार्थी ही अधिकारी है । यद्यपि इतना प्रसिद्ध है, तथापि वेदके विषय आदिके अभावमें व्याख्यानके भी परम विषय नहीं होते हैं, इसलिए वेदसे सम्बद्ध इन चार विषयोंका उल्लेख किया जाता है—

वेदमें पूर्वकाण्डका विषय है धर्म और उत्तरकाण्डका ब्रह्म—क्योंकि इन दोनों का ही ज्ञान (प्राप्ति) वेदके अतिरिक्त अन्य साधनसे नहीं हो सकता । इसीलिए 'पुरुषार्थानु-

---

१. तै० ब्रा० १.५.२.६–९ ।

शासन' के एक सूत्रमें कहा गया है—**'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये'**—धर्म और ब्रह्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही हो सकता है। मीमांसा-दर्शनके दूसरे सूत्रमें सम्प्रदायसे परिचित लोगोंने ये ही दो नियम बताये हैं—

१. **'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्'** तथा

२. **'चोदना प्रमाणम् एव।'**

'चोदना' का अर्थ स्पष्ट करनेके लिए चौथे सूत्रमें इसका निराकरण किया गया है कि धर्म प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय है–**'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'**—प्रत्यक्ष प्रमाणसे उसीका ज्ञान हो सकता है, जो विद्यमान हो। जिस वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं हो सकता। अनुष्ठानसे पहले भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले धर्मकी प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है, क्योंकि उस समय उसकी सत्ता नहीं रहती। उत्तरकालमें भी रूप, रस, गन्ध आदिसे रहित होनेके कारण उसका ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता। अतः सभी उसे 'अदृष्ट' कहते हैं। लिङ्गरहित होनेके कारण वह अनुमानका विषय भी नहीं बन सकता। यदि यह कहा जाये कि सुख और दुःखमें धर्म और अधर्मका लिङ्ग है, तो ठीक है; यह लिङ्ग-लिङ्गिभावका ज्ञान भी वेदसे ही होता है। अतः यही मत स्थिर होता है कि—**'चोदना एव धर्मे प्रमाणम्।'** बादरायणके वेदान्त-सूत्रके द्वितीय वर्णकमें ब्रह्मके सिद्ध वस्तु होने पर भी भाष्यकारोंने यह व्याख्या की है कि वह एकमात्र शास्त्रोंका ही विषय है। अभिप्राय यह कि शास्त्र-प्रमाणसे ही ब्रह्मको जगत्की जन्म, स्थिति आदिका कारण समझा जाता है। इस विषयमें श्रुति है—**'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्—'** इसका उपपादन पूर्वाचार्योंने ही किया है कि ब्रह्म तत्वका ज्ञान वेदके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंसे नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ रूप और लिङ्गादि नहीं हैं। चूंकि धर्म और ब्रह्मकी प्राप्ति (ज्ञान) अन्य प्रमाणों, साधनोंसे नहीं होती अतः धर्म और ब्रह्म ही वेदके विषय हैं।

'इन दोनोंका ज्ञान ही वेदका प्रत्यक्ष प्रयोजन है। इस ज्ञानको 'सप्तद्वीपा वसुमती' और 'राजाऽसौ गच्छति' सदृश ज्ञानोंकी भाँति अपुरुषार्थमें पर्यवसित मान लेना ठीक नहीं, क्योंकि धर्मके रूपमें पुरुषार्थकी स्तुतिकी गयी है—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदति तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥' [1]

'जब उद्दण्ड राजा नियामक हो, तो दोनों विवाद करनेवाले पुरुषोंके मध्य, राज-सहायताकी भाँति दुर्बलकी भी विजयका कारण होनेके कारण धर्म पुरुषार्थ है। इसीलिए वाजसनेयी अपने सृष्टि-प्रकरणमें कहते हैं—**'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य**

---

१. तै० आर० १०.६३.७।

क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद् धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते; धर्मेण यथाराज्ञैवम् ।' [1]

—धर्म की सृष्टि कल्याणके रूपमें हुई । क्षत्रियका क्षत्रियत्व ही धर्म है, धर्मसे बढ़कर और कुछ नहीं । धर्मवश या धर्मकी सामर्थ्यसे एक निर्बल पुरुष राजाके समान बलवान व्यक्तिको पराजित कर देता है ! तथा—**'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्'** [2]—ब्रह्मको जाननेवाला परमतत्त्वको पा लेता है ।

और—**'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'**— ब्रह्मको जाननेवाला स्वयं भी ब्रह्म ही हो जाता है ।

तथा—**'तरति शोकमात्मवित्'**[3] —'आत्मज्ञानी पुरुष शोक-संतरण कर लेता है ।

इन श्रुतियोंसे सुविख्यात है कि धर्म पुरुषार्थसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है ।

'धर्म और ब्रह्म, दोनोंका ही जिज्ञासु वेदमें अधिकारी है । वह तीन वर्णोंमेंसे कोई भी हो सकता है । स्त्री और शूद्रको ज्ञानकी आवश्यकता होने पर भी उनका उपनयन संस्कार न होनेसे उन्हें वेदाध्ययनका अधिकारी नहीं माना गया है । धर्म और ब्रह्मका ज्ञान उन्हें पुराणादिसे हो जाता है । इससे तीन वर्णोंमें उत्पन्न पुरुष ही वेद-मुखसे अर्थ-ज्ञानके अधिकारी हैं ।

'धर्म और ब्रह्मके साथ वेदका प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भावका सम्बन्ध है, उसके ज्ञानके साथ जन्य-जनक भाव और त्रैवर्णिक पुरुषोंके साथ उपकार्य-उपकारक भाव है ।

'इस प्रकारसे श्रोतागण वेदके विषयादि अनुबन्ध-चतुष्टयको जानकर तन्मय-बुद्धिसे वेद-व्याख्यानमें प्रवृत्त हों ।

'अत्यन्त गम्भीर वेदार्थ को समझनेके लिए शिक्षा आदि छह वेदाङ्ग उपयोगी हैं । अथर्ववेदियोंने मुण्डक उपनिषद्में उन्हें अपराविद्या बताया है—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैव अपरा च । तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तम् छन्दो ज्योतिषम् इति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।' [4]

—ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि दो विद्याएँ जाननी चाहिये—परा और अपरा । अपरा के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और

---

१. बृ० उप० १४.४.२.३६ ।
२. तै० उप० २.१ ।
३. छा० उप० ७.१.३ ।
४. मु० उप० १.१.४, ५ ।

ज्योतिष् हैं। 'परा' वह है, जिसके द्वारा अक्षर (—अविनाशी परमात्मा) के विषयमें जाना जाता है। धर्म साधन है और षडंग सहित कर्मकाण्ड धर्मज्ञानका हेतु है—अतः सवेदाङ्ग कर्मकाण्ड अपराविद्या है और उपनिषदें पराविद्याके अन्तर्गत हैं, क्योंकि ये ब्रह्मका ज्ञान कराती हैं, जो परमपुरुष मोक्षका साधक है।

जहाँ वर्ण, स्वर इत्यादिकी उच्चारण-विधिका उपदेश दिया जाता है, वह शिक्षा है।...आश्वलायन, आपस्तम्ब और बोधायन आदिके सूत्रग्रन्थ कल्प हैं। 'कल्प' शब्दकी व्युत्पत्ति यों है—**'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगः अत्र इति कल्पः।'** व्याकरण प्रकृति-प्रत्ययके उपदेशसे पदस्वरूप और उसके अर्थका निश्चय करानेके लिए उपयोगी है।... अब निरुक्तका प्रयोजन बतलाते हैं। अन्य अङ्गोंकी सहायताके बिना केवल पद-व्याख्याके आधार पर जहाँ अर्थ-ज्ञान कराया जाता है, वह निरुक्त है। **'गौः, गमा, जमा, क्षा, क्षमा'**, से लेकर **'वसवः वाजिनः देवपत्न्यः'** तक पदोंका समाम्नान निघण्टुमें किया गया है। इस ग्रन्थमें पदके अर्थज्ञानके लिए अन्य अंगोंकी अपेक्षा नहीं रहती। इतने पृथ्वीके नाम हैं, इतने हिरण्य (सोना) के पर्याय हैं—यह वहाँ-वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है। **'समाम्नायः समाम्नातः'** से लेकर **'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति अनुभवति'** तक १२ अध्यायोंमें यास्कने उपर्युक्त निघण्टुग्रन्थगत नामोंकी व्याख्या की है। १२ अध्यायोंके इस व्याख्यान-ग्रन्थको भी निरुक्त कहते हैं। 'निरुक्त' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकारसे है—**'एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवास्तत्र निःशेषणोच्यन्ते'**—इस व्याख्यामें प्रत्येक पदके अवयवगत अर्थ सम्पूर्ण रूपसे स्पष्ट किये गये हैं।...इसी प्रकारसे छन्दोग्रन्थ भी उपयोगी हैं, क्योंकि मन्त्र-तन्त्र विशेष छन्दोंका विधान है। जैसे कि कहा गया है, प्रातरनुवाक्में क्रमशः चार-चार अधिक अक्षरोंवाले सात छन्द कहे जाते हैं। ये सात छन्द हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती।...ज्योतिषका प्रयोजन भी उसी ग्रन्थ अर्थात् कात्यायनकी अनुक्रमणीमें बताया गया है—**'यज्ञकालार्थसिद्ध्ये'**—ज्योतिष्के द्वारा यज्ञ-कालका निश्चय किया जाता है।...छहों वेदाङ्गोंके अनुसार हम ऋग्वेदकी व्याख्या करते हैं। वेद मंत्र-ब्राह्मणात्मक है और ब्राह्मणग्रन्थ मंत्र-व्याख्यानकी दृष्टिसे उपयोगी हैं, इसलिए पहले हमने आरण्यक काण्डके सहित ब्राह्मणकी व्याख्या की है। अब जहाँ आवश्यक हो, वहाँ ब्राह्मणोंके उद्धरण देते हुये मंत्रात्मक संहिताकी व्याख्या करनी है। **'अग्निमीळे'** से लेकर **'यथा वः सुसहासति'** तक आठ काण्डों, दस मण्डलों, बैंसठ अध्यायों और दो हजारसे कुछ अधिक वर्गों वाले ऋग्वेदमें दस हजारसे भी कुछ अधिक ऋचाएँ हैं। इस सम्पूर्ण ग्रन्थका ब्रह्मयज्ञ, जपयज्ञ आदिमें सामान्य विनियोग आम्नायक्रमसे पहले ही बता दिया है। भिन्न-भिन्न यज्ञोंमें मंत्रोंका विशेष विनियोग सूत्र-कारने दिखलाया है। यह विनियोग तीन प्रकारसे हुआ है—१. सूक्त विनियोग; २.

तृच् (—तीन ऋचाओंका) विनियोग; ३. प्रत्येक ऋचाका पृथक्-पृथक् विनियोग। . . . आश्वलायन श्रौतसूत्रमें इसकी परिभाषा यों की गयी है—'**सूक्तं सूक्तादौ हीने पादे**[1]।' वहीं यह भी कहा गया है कि 'पादग्रहणसे ऋचाका ग्रहण होगा—'**ऋचं पादग्रहणे**[2]।' ऋषि आदिका ज्ञान न होने पर जो प्रत्यवायपाप—होता है, उसका स्मरण कराते हुये कहा गया है—

'अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद् जपेद् वापि पापीयान् जायते तु सः।
ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वरादपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥'

—ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको जाने बिना ही वेदको पढ़ने-पढ़ानेवाले पापके भागी होते हैं। ऋषि, छन्द, देवता और स्वरादि ब्राह्मणके लिए हैं, इन्हें जाने बिना ही जो मंत्रका व्यवहार करता है, वह मंत्र-कण्टक कहा जाता है।

निम्नाङ्कित श्लोकमें ज्ञान-विधिका स्मरण कराया गया है—

'स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रजिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे-पदे॥'

—मन्त्र-ज्ञानके इच्छुकको प्रत्येक पदके स्वर, वर्ण, अक्षर, विनियोग और अर्थका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

'ऋषि' शब्दकी सिद्धि '√ऋष् > गतौ' धातुसे हुयी। इसमें '**सर्वधातुभ्य इन्**'[3] से 'इन्' और **इगुपधात् कित्**'[4] से 'कित्' प्रत्यय लगे हैं। स्वयम्भू वेद-पुरुषने वेदार्थ तपस्याके अनुष्ठानमें रत पुरुषोंको प्राप्त किया; जैसाकि सुना जाता है—'**अजान् ह वै पृश्नींस्त-पस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्यानर्षन्तदृषयोऽभवन्**।'[5]

श्री परमेश्वरके अनुग्रहसे अतीन्द्रिय वेदको सर्वप्रथम ऋषियोंने देखा—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥'

---

१. आश्व० श्रौ० १.१.१८।
२. वही १.१.१७।
३. उ० ४१.१९।
४. वही ४.१२१।
५. तै० आर० २.९.१।

युगान्तके समय लुप्त वेदोंको स्वयम्भूके द्वारा अनुमत महर्षियोंने तपस्याके द्वारा इतिहासके साथ प्राप्त किया ।

पुरुषके पाप-सम्बन्धोंका निवारण करनेके लिए छन्द उन्हें आच्छन्न कर देते हैं—इसीलिए उन्हें छन्द कहा जाता है । अरण्यकाण्डमें कहा गया है—**'छादयन्ति हि वा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः ।'** अथवा चीयमान् अग्निके सन्तापको ढकनेके कारण ये छन्द कहलाये । तैत्तिरीय शाखाध्यायियोंके अनुसार—**'प्रजापतिरग्निमचिनुत स क्षुरपविर्भूत्वा अतिष्ठत् तं देवा बिभ्यतो नोपायन् ते छन्दोभिः आत्मानं छादयित्वोपायन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'** [1]—

अथवा अपमृत्युका निवारण करनेके लिए छन्द उसे ढक लेते हैं, यह भी छान्दोग्य उपनिषद्में कहा गया है—**'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन् यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।'** [2]

'देव' शब्द द्योतनार्थक 'दिव्' धातुसे बना है; 'देवता' का अभिप्राय है—जो मंत्रसे प्रकाशित किया जाता है ।. . .स्तुति किये जानेके कारण वह देवता है ।'

ऐतरेय प्रथमारण्यकके भाष्यसे—

'ऐतरेय ब्राह्मणेऽस्ति काण्डमारण्यकाभिधम् ।
अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते ।।
आरण्यकानि पञ्चेति प्रोक्तान्यर्थविभेदतः ।
महाव्रतमहः प्रोक्तं प्रथमारण्यके स्फुटम् ।।
गवामयनमित्युक्ते सत्रे संवत्सरात्मके ।
उपान्त्यमस्ति यदहस्तन्महाव्रतनामकम् ।।
सत्रप्रकरणेऽनुरक्तिररण्याध्ययनाय हि ।
महाव्रतस्य तस्यात्र हौत्रं कर्म्म विविच्यते ।।'

—ऐतरेय ब्राह्मणमें आरण्यक काण्ड है । यह अरण्यमें पढ़े जानेके कारण 'आरण्यक' कहा जाता है । अर्थभेदसे पाँच प्रकारके आरण्यक बताये गये हैं । प्रथमारण्यकमें स्पष्ट ही महाव्रत दिनका निरूपण किया गया है । 'गवामयन' नामक संवत्सरात्मक सत्रमें उपान्त्य (अन्तिमसे पहला) दिनको ही महाव्रत कहते हैं । सत्र-प्रकरणमें अरण्य-अध्ययनका विधान नहीं है । यहाँ उसी महाव्रतके होतृ-कर्मकी विवेचनाकी जा रही है ।

---

१. तै० सं० ५.६.६.१ ।

२. छा० उप० १.४.२ ।

'सर्वप्रथम इसका विवक्षित अर्थ समझ लेना चाहिये । **'अथ महाव्रतम्'** में 'अथ' शब्द प्रारम्भका बोध कराता है—अर्थात् महाव्रत नामक कर्म प्रारम्भ हो गया; अथवा 'अथ' शब्द यहाँ आनन्तर्य बोधक है । प्रकृतिज्ञानके बाद महाव्रत नामक विकृति कर्मका कथन होता है । प्रकृतिका ज्ञान हो जाने पर विकृतिमें अतिदिष्ट धर्म सम्पूर्ण रूपसे समझे जा सकते हैं । विश्वजित्, चतुर्विंश आदि कर्म महाव्रतकी प्रकृतियाँ हैं । आज्य और प्रउग नामक दो शस्त्र विश्वजित् कर्मसे महाव्रतमें अतिदिष्ट कर दिये जाते हैं । होत्रक-शस्त्रोंका अतिदेश चतुर्विंश नामक कर्मसे हो जाता है; जैसाकि पञ्चमारण्यकमें पढ़ा गया है—**'आज्यप्रउगे विश्वजितो होत्राश्चतुर्विंशत् ।'**[1]

ऐतरेय तृतीयारण्यकके भाष्यसे—

'प्राणविद्या मध्यमस्य ब्रह्मविद्योत्तमस्य च ।
पूर्वोक्तोक्थाधमस्याथ संहितोपास्तिरीर्यते ॥'

विद्याधिकारी तीन प्रकारके हैं—१. उत्तम २. मध्यम और ३. अधम । इनमेंसे उत्तम वह है, जो समग्र संसारसे विरक्त है, एकाग्रचित्त है और तत्क्षण मुक्ति चाहता है । **'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'**[2] आदि ब्रह्मविद्या उसीके प्रति कही गयी है । हिरण्य-गर्भकी प्राप्तिके द्वारा क्रमशः मुक्ति चाहनेवाला मध्यम है । **'उक्थमुक्थम्'** इत्यादिके रूपमें उसके लिए प्राणविद्याकी उपासना बतायी गयी है और जो इन दोनों प्रकारकी मुक्ति नहीं चाहता है, केवल सन्तान एवं पशु आदि चाहता है, वह अधम है; उसके लिए तीसरे आरण्यकमें संहिताकी उपासना बतायी गयी है—**'अथातः संहिताया उपनिषत्'**[3]—प्राणविद्या और ब्रह्मविद्या कहनेके अनन्तर, चूँकि प्रबल पाठ-वासनायुक्त व्यक्तिका चित्त पाठ-सम्बन्ध-रहित प्राणविद्या और ब्रह्मविद्यामें नहीं केन्द्रित होता, इस कारण पाठसम्बन्धिनी संहिताकी विद्या कही जा रही है । इस विद्यामें प्रजा, पशु आदि फल निहित होनेके कारण यह उप-निषद् है ।

ऐतरेय चतुर्थारण्यकके भाष्यसे—

'कथितोपनिषत्सर्वा महानाम्न्याख्यमंत्रकाः ।
अरण्याध्ययनार्थं ते प्रोच्यन्तेऽथ चतुर्थके ॥'

—'महानाम्नी' शीर्षक मंत्ररूप उपनिषदें कही जा चुकीं—अब इस चतुर्थ आरण्यकमें, अरण्यमें अध्ययन करनेके लिए हम उन्हें कहते हैं ।

---

१. ऐत० आर० ५.१.१.४, ५ ।
२. वही २.५–७ ।
३. वही ३.१.१ ।

ऐतरेय पञ्चमारण्यकके भाष्यसे---

महाव्रत कर्म तीन प्रकारका है---१. एकाहरूप, २. अहीनावयवरूप और ३. सत्रावयवरूप। इन त्रिविध-कर्मोंमें होतृ-प्रयोग बतलानेकी चेष्टा की जा रही है---'**महाव्रतस्य पञ्चविंशतिम् सामिधेन्यः**[1]।' प्रथमारण्यकमें भी '**अथ महाव्रतमिन्द्रो वै वृत्रं हत्वा**'[2] आदिके रूपमें महाव्रत प्रयोग कहा गया है; फिर पाँचवेंमें भी वही कहने से पुनरुक्ति होगी? यह दोष नहीं, क्योंकि सूत्र और ब्राह्मणका अन्तर है। पञ्चमारण्यक ऋषिप्रोक्त सूत्र है और प्रथमारण्यक अपौरुषेय ब्राह्मण। इसीलिए अर्थवाद-प्रपञ्चसे वहाँ संहिता-विधियाँ बतायी गयी हैं। पाँचवेंमें एक भी अर्थवाद नहीं है। शाखान्तरीय मंत्र बहुतसे मिलते हैं। इसलिए '**अथैतस्य समाम्नायस्य**'[3] इत्यादि द्वादशाध्यायकी भाँति '**महाव्रतस्य पञ्चविंशतिम्**' इत्यादि पञ्चमारण्यक सूत्र ही है। अरण्यमें ही अध्ययन करना चाहिये, इस अभिप्रायसे अध्येता आरण्यक काण्डमें अन्तर्भाव करके इसका अध्ययन करते हैं। इस पञ्चमारण्यकमें सूत्रकारके द्वारा अभिधीयमान महाव्रत नामक कर्म गवामयन सत्रमें उत्पन्न है। इसलिए अध्वर्यु शाखा (यजुर्वेद) में '**गावो वा एतत् सत्रमासत**' आदि गवामयन प्रकरणके अन्तर्गत '**देवानां वा सन्तं जग्मुम्**' इत्यादि तीन अनुवाकोंसे महाव्रतका विधान किया गया है, न कि उसी शाखामें। दूसरे ग्रन्थमें '**प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा वृत्रोऽशयत्**'[4] अनुवाकसे क्या उसीका आम्नान किया गया है? यदि ऐसा है तो उस अनुवाकका भी गवामयन प्रकरणगत बता दीजिये; '**नवैतान्यहानि भवन्ति**'[5] इत्यादि गवामयनका प्रतिपादन करनेवाले पाँच अनुवाकोंमें '**प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा**' आदि अनुवाक् पाँचवाँ है। सामवेदमें भी '**गावो वा**'[6] से इसका समाम्नान किया गया है। गवामयन प्रकरणमें '**प्रजापतिः प्रजा असृजत**' आदिके द्वारा महाव्रतके एक ही दिनका विधान है और वह सत्रका उपान्त्य---अन्तिमसे पहला---दिन है, उदयनीय नामक अन्तिम दिनसे समनन्तर पहला---जैसाकि आपस्तम्बका कथन है---'**सन्तिष्ठते महाव्रतम्**' से दिन समाप्त करनेके बाद व्याख्या करके '**उदयनीयः**' से उदयनीय नामक अन्तिम दिन कहा है। इससे सत्रमें उत्पन्न महाव्रतके वचन-बलसे सत्रके बाहर भी एकाह रूपसे और अहीनगत पृथक् प्रयोग होता है; जैसे राजसूयमें उत्पन्न होनेवाली अवेष्टिका वचनसे पृथक् प्रयोग है।

---

१. ऐत० आर० ५.१.१।
२. वही १.१.१।
३. वही आ० श्रौ० १.१.१।
४. तै० ब्रा० १.२.६.१।
५. वही १.२.२.१।
६. ताण्ड्य महाब्राह्मण १.३.१.१।

अथवा जैसे राजसूयमें उत्पन्न होनेवाले चातुर्मास्योंका **'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति'** वचनके द्वारा पृथक् प्रयोग है। इसी प्रकारसे एकाह पक्षमें भी स्वतन्त्रता है। अहीनत्व पक्षमें पौण्डरीक नामक एकादश रात्रका यह दसवाँ दिन होता है। आपस्तम्ब ने भी पौण्डरीक नामक दिनकी क्लृप्ति बतलायी है—**'अथैकेषामत्यायन् गाः षड्चाहश्चत्वारश्छन्दोगा महाव्रतं विश्वजित्सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः।'**

सत्रमें समुत्पन्न महाव्रत प्रकृति है। एकाहरूप और अहीनरूप विकृतियाँ हैं। अतः महाव्रतकी सत्रगत प्रधानता होनेके कारण यहाँ उसका वर्णन किया जाता है। उस महाव्रतके भी परम्परासे अग्निष्टोमकी विकृतिके रूपमें सोमयाग होनेके कारण और सोमयागमें स्तोत्र, शस्त्र आदिके समान सामिधेनियोंका अंग न होनेसे २५ सामिधेनियोंका विधान ठीक न हो, तो ? यह दोष नहीं है, क्योंकि सोमयागमें यद्यपि सामिधेनियोंकी अपेक्षा नहीं है, तथापि उसके अंगभूत सवनीय पशुको उसकी अपेक्षा है। 'आनर्थक्यात् तदङ्गेषु'—न्यायसे मुख्यके साथ अन्वित न होने पर भी उसके अंगके साथ अन्वय हो जाता है, इसलिए **'अङ्गद्वारा सामिधेनीनां महाव्रतस्य'** में सम्बन्धवाचक षष्ठीका प्रयोग ठीक ही है। 'पञ्चविंशतिम्' में द्वितीया विभक्तिका विपरिणमन प्रथमामें कर लेना चाहिये—तात्पर्य यह कि 'सामिधेनी' नाम्नी पच्चीस ऋचाएँ। जिन ऋचाओंसे भली भाँति अग्नि प्रज्वलित की जाती है, वे सामिधेनी हैं—**'सम्यगिध्यते ज्वाल्यतेऽग्नियाभिः ऋग्भिस्ताः सामिधेन्यः।'**

'अमरकोश'[1] में भी कहा गया है—**'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्नि समिन्धने।'** सवनीय पशुके प्रोक्षणसे पहले अध्वर्युके द्वारा प्रेषित होता सामिधेनी ऋचाओंका पाठ करे, जैसाकि आपस्तम्बने कहा है—**'उपरिष्टादधस्तात्सर्वतश्चप्रोक्ष्य वेदं निधाय सामिधेनीभ्यः प्रतिपद्यते।'**

'तैत्तिरीय संहिता' की भाष्यभूमिका प्रायः ऋग्भाष्यभूमिकाके समान ही है (अतः उसे नहीं उद्धृत किया जा रहा है)।

तैत्तिरीय ब्राह्मणकी भाष्यभूमिकासे—

'यद्यपि संहितामें **'इषे त्वोर्ज्जे त्वा'**[2] आदि दर्श और पूर्णमासके मंत्र पहले आये हैं—अतः उसके व्याख्यानरूप ब्राह्मणमें पौरोडाशिक काण्डका पाठ पहले होना चाहिये, फिर भी दर्शपूर्णमासमें आहवनीया आदि अग्नियोंकी अपेक्षा रहती है और अग्नियाँ आधानसाध्य हैं, इसलिए प्रथम काण्डके पहले प्रपाठकमें अग्न्याधानकी विधि बतायी जाती है

---

१. अमरकोश २.७.२२।

२. यजु० सं० १.१.१.१।

यद्यपि **'कृत्तिकास्वग्निमादधीत'** ही आधान ब्राह्मणका उपसंगम है, फिर भी संहितामें, ग्रहकाण्डमें शुक्रामन्थिग्रहके प्रचार हेतु मंत्र नहीं कहे गये हैं, उन्हें यहाँ कहना चाहिये—इससे और मंगलरूप होनेके कारण वे शासनीय फलका प्रतिपादन करते हैं, इसलिए पहले अनुवाक्में उन परिशिष्ट मंत्रोंको रखकर मंगलाचरण किया गया है—**'ब्रह्म सन्धत्तम्'** आदि। वेदमें 'ब्रह्म' शब्द प्रमुख रूप से (जगत्के कारण) परमात्माके अर्थमें आया है—

१. ऐतरेय उपनिषद्में—**'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म'**।[1]

२. तैत्तिरीय उपनिषद्में—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'**[2]

३. बृहदारण्यक उपनिषद्में—**'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**।[3]

'इसके वर्ण मात्रमें परब्रह्मकी सहसा उपस्थिति हो जानेसे मंगलाचरण हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद भी है, क्योंकि वही ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। इसीलिए ग्रन्थारम्भमें वेदपुरुषका स्मरण किया गया है। उस वेदके अध्ययन-अध्यापनका अधिकार प्रमुख रूपसे ब्राह्मणोंके हाथमें रहा है, अतः यह शब्द ब्राह्मण जातिका वाचक भी है। यह अर्थ भी इस मंत्रमें विवक्षित है, क्योंकि दूसरे वाक्यमें 'क्षत्र' शब्द आया है। इस प्रकारसे या प्रतिपाद्यमें अविवक्षित होने पर भी परमात्माकी सहसा प्रतीति होनेके कारण विघ्नपरिहार होकर मंगल हो जाता है। जैसे ब्राह्मणोंके भोजनार्थ लाये जा रहे दधिकुम्भके दर्शनसे दूसरे स्थानको जानेके इच्छुकों (यात्रियों) का मंगल हो जाता है, वैसे ही। अतः प्रथम अनुवाक्में **'ब्रह्म सन्धत्तम्'** आदि मंत्रकी सत्ता उचित ही है।'

तैत्तिरीय आरण्यकके भाष्यसे—

'अरण्याध्ययनादेतत् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥
काण्डमारण्यकं सर्वं व्याख्यातव्यं प्रयत्नतः।
आरण्यकविशेषास्तु पूर्वाचार्यैरुदीरिताः॥
हेतून प्रवर्ग्यकाण्डं च याश्चोपनिषदो विदुः।
अरुणीयविधिश्चैव काठके परिकीर्त्तितः॥
रुद्रो नारायणश्चैव मेधो यश्चैव पित्रियः।
एतत् आरण्यकं सर्वं नाक्रतो श्रोतुमर्हति॥
कठेन मुनिना दृष्टं काठकं परिकीर्त्यते।
सावित्रो नाचिकेतश्च चातुर्होत्रस्तृतीयकः॥

---

१. ऐत० उप० ३.३।

२. तै० उप० २.१।

३. बृह० उप० ३.९.२८।

तुर्यो वैश्वसृजस्तद्वद् वह्निः आरुणकेतुकः ।
स्वाध्यायब्राह्मणञ्चेति सर्वं काठकमीरितम् ॥
नारण्याधीति नियमः सावित्रादि चतुष्टये ।
अतस्तद् ब्राह्मणग्रन्थे श्रुतं व्याख्यातमप्यदः ॥
वह्निरारुणकेत्वाख्यः पाठके पञ्चमे श्रुतः ।
आरण्यकादावाम्नातः तद्व्याख्याथ प्रतन्यते ॥'

——अरण्यमें पढ़े जानेके कारण यह आरण्यक है। इन्हें अरण्यमें ही पढ़ा जाता है, यही वाक्य इस विषयमें कहा जाता है। समग्र आरण्यक काण्डकी सप्रयत्न व्याख्या करनी है। आरण्यक विशेषोंका वर्णन पूर्वाचार्योंने किया है। काठकमें हेतु, प्रवर्ग्यकाण्ड, जिसे उपनिषदें जानती हैं, वह और आरुणीय विधिका वर्णन है। रुद्रनारायण मेध और पित्रिय मेधका उल्लेख है। व्रतविहीन व्यक्ति इसे सुननेका अधिकारी नहीं है। कठ मुनिके द्वारा देखे जानेके कारण इसे काठक कहते हैं। सावित्र, नाचिकेत, चातुर्होत्र और वैश्वसृजके समान ही आरुणकेतुक अग्नि तथा स्वाध्यायब्राह्मण——इस सबको काठक कहा जाता है। सावित्र आदि चारों (अग्नियों) का अध्ययन अरण्यमें नहीं करना चाहिये। अतः इनकी व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थमें हुयी है। आरुणकेतु नामकी अग्निका वर्णन पाँचवें प्रपाठक (आरण्यकका आदि भाग) में है, इसलिए अब उसकी व्याख्या की जाती है।'

षष्ठ प्रपाठकके भाष्यका शेषांश--

'यो दर्शपूर्णमासादिः पितृमेधान्त ईरितः ।
कर्मकाण्डः समग्रोऽयं व्याख्यातो बालबुद्धये ॥'

——पितृमेधके अन्तमें बताये गये दर्शपूर्णमास आदि समस्त कर्मकाण्डकी व्याख्या यहाँ बाल-बोधके निमित्त की है।'

तैत्तिरीय आरण्यकके सातवें, आठवें और नवें प्रपाठक उपनिषद् माने जाते हैं——उनपर सायण-भाष्य नहीं मिलता।

दशम प्रपाठककी भाष्यभूमिका--

'वारुण्युपनिषद्युक्ता ब्रह्मविद्या ससाधना ।
याज्ञिक्यां खिलरूपायां सर्वशेषोऽभिधीयते ।'

——वारुणी उपनिषद्में साधन सहित ब्रह्मविद्या बतायी गयी है। खिलरूपा याज्ञिकी उपनिषद्में समस्त शेष विषयोंका निरूपण किया गया है।

'जैसे बृहदारण्यकके ७वें और ८वें अध्यायोंके उदाहरण आचार्योंने खिलरूपमें दिये हैं, वैसे ही नारायणकी व्याख्यारूप याज्ञिकी उपनिषद भी खिलकाण्ड ही है——खिलके सभी

लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड—इन तीनोंसे जो सामग्री बच गयी, वह सम्पूर्ण प्रकीर्ण सामग्री खिलमें सँजोयी गयी है। बृहदारण्यकके ७वें अध्यायमें **'पूर्णमदः पूर्णमिदं'** इत्यादिके रूपमें ब्रह्मतत्त्वका निरूपण किया गया है। आठवें अध्यायमें अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतायी गयी हैं, जैसे—**'ॐ खं ब्रह्म . . . यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद**[1]।' **'स यः कामयेत् महत् प्राप्नुयाम**[2]' में 'मन्थ' नामक कर्म कहा गया है—फिर विशेष पुत्र आदिकी कामनायुक्त कर्म कहे गये हैं[3]। इसी प्रकारसे यहाँ भी **'अम्भस्य पारे'** इत्यादि प्रथम अनुवाकमें ब्रह्मतत्त्व बताया गया है। **'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलम्'** आदिके रूपमें उपासना बतायी गयी है। **'भूरग्नयेऽग्नये पृथिव्यै स्वाहा'** प्रभृति वचनोंसे कर्म बताये गये हैं। कर्म-बाहुल्यके कारण यह उपनिषद् 'याज्ञिकी' कही जाती है। प्रारम्भमें ब्रह्मतत्त्व-विवेचन और उपसंहारमें सत्यसे लेकर संन्यास तक ब्रह्म-ज्ञानके साधनोंका निरूपण होनेके कारण यह उपनिषद् कही जाती है। विभिन्न प्रान्तोंमें इसके अनेक पाठ-सम्प्रदाय प्राप्त होते हैं। इसका कारण यद्यपि शाखाभेद है, फिर भी तैत्तिरीय शाखाके अध्यापकों और विभिन्न प्रान्तोंके निवासियों द्वारा सम्मान्य होनेके कारण सभी पाठ उपयोगी हैं। द्राविड पाठमें ६४ अनुवाक्, आन्ध्र पाठमें ८०, कर्णाटक पाठमें ७४ और कुछ अन्य पाठोंमें ८९ अनुवाक् हैं। हम यथासम्भव पाठान्तर सूचित करते हुये मुख्य रूपसे ८० पाठोंकी व्याख्या करेंगे।'

सामवेदके पूर्वार्च्चिक भाष्यकी भूमिकासे—

'सामवेदार्थभेषोऽत्र प्रकाशयति सादरम्।
उद्गातुस्तत्त्वजिज्ञासोरपि तेन कृतार्थता॥
यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः॥
निर्म्ममीते क्रियासङ्घैरध्वर्युर्यज्ञियं वपुः।
तदलंकुरुते होता ब्रह्मोद्गातेत्यमी त्रयः॥
शस्त्रयाज्यानुवाक्याभिर्होतालंकुरुतेऽध्वरम्।
आज्यपृष्ठादिभिः स्तोत्रैरुद्गातालङ्करोत्यमुम्॥
त्रयाणामपराधन्तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा।
'ऋचान्त्वः'-इति मंत्रेऽसावर्थः सर्वोऽभिधीयते॥

---

१. बृह० उप० ८.१.१।
२. वही ८.३.१।
३. वही ८.४.६–१८।

यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्मिमीते ततो यजुः ।
व्याख्यातं प्रथमं; पश्चादृचां व्याख्यानमीरितम् ।।
साम्नामृग श्रितत्वेन सामव्याख्याऽथ वर्ण्यते ।
अनुतिष्ठासु जिज्ञासावशाद् व्यायाक्रमो ह्ययम् ।।
जाते देहे भवत्यस्य कटकादि विभूषणम् ।
आश्रितम् मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा ।।
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद् विभूषणम् ।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः ।।'

——अब यहाँ सादर सामवेदका अर्थ-प्रकाशन किया जा रहा है। उससे उद्गातृ-तत्त्वोंके जिज्ञासुका प्रयोजन भी सिद्ध होगा। वेदमें दो काण्ड हैं। यज्ञ और ब्रह्म उनके विषय हैं। यज्ञको चार ऋत्विक् सम्पन्न करते हैं, जिनमें अध्वर्यु प्रमुख है। अध्वर्यु अपने क्रिया-कलापोंसे यज्ञ-शरीरकी रचना करता है। होता, उद्गाता और ब्रह्मा——ये तीन उसे अलंकृत करते हैं। होता यज्ञको शस्त्र, याज्या और अनुवाक्याओंसे सजाता है। उद्गाता उसे आज्यपृष्ठ आदि स्तोत्रोंसे विभूषित करता है और ब्रह्मा सदैव इन तीन ऋत्विकोंकी त्रुटियोंका निवारण करता है। **'ऋचान्त्वः'** मंत्रमें यह सम्पूर्ण आशय कहा गया है। अध्वर्यु यजुषोंसे यज्ञ-शरीरका निर्माण करता है, इसलिए हमने पहले यजुर्वेदकी व्याख्या की। उसके बाद ऋचाओंकी व्याख्या की गयी। सामोंकी मूल आधार हैं ऋचाएँ, अतः सामवेदकी व्याख्या की जा रही है। व्याख्याका यह क्रम यज्ञानुष्ठानकी जिज्ञासावश रखा गया है। जैसे शरीर उत्पन्न हो जानेके बाद ही उसे कटक-कुण्डल आदि आभूषणोंसे सजाया जाता है; मणि और मुक्ता उन्हीं आभूषणोंमें जहाँ-तहाँ लटकाए जाते हैं——वैसे ही यजुर्मयी यज्ञ-देहके उत्पन्न हो जानेके बाद ही उसे ऋचाओं द्वारा अलंकृत किया जाता है। सामोंकी स्थिति मणियों और मोतियों जैसी है, जो ऋचाओं पर आश्रित हैं।

:०: :०: :०:

'गीतिषु सामाख्या' का विस्तार करनेके लिए ही सातवें अध्यायके दूसरे पादमें **'रथन्तर'** शब्द का निरूपण किया गया है——

'अतिदेश्यं विनिच्चेतुं कवतीषु रथन्तरम् ।
गायतीत्यृग् गानयुक्ता शब्दार्थो गानमेव वा ।।
इति चिन्ता; गानयुक्ता त्वभित्वेत्यृक् प्रसिद्धितः ।
लाघवादतिदेशस्य योग्यत्वाच्चान्तिमो भवेत् ।।'

'कयानश्चित्र आ भुवत्' इत्यादि तीन ऋचाएँ **'कवती'** कही जाती हैं; उनमें अध्ययन-

परम्परासे वामदेवका साम प्राप्त होता है, उसे बाधित करने के लिए 'रथन्तर' शब्दका उनमें अतिदेश किया जाता है; वहाँ अतिदेशका क्या स्वरूप है, इसका निश्चय करनेके लिए 'रथन्तर' शब्दके अर्थ पर विचार किया जाता है। गानविशेष-युक्त **'अभि त्वा शूर नोनुमः'** ऋचा 'रथन्तर' कही जाती है, क्योंकि अध्येताओंमें वह इसी नामसे प्रसिद्ध है। अगर किसीने कहा कि रथन्तर गाओ, तो अध्येता विशेष स्तोभ स्वरसे युक्त इसी ऋचाका पाठ करते हैं, नकि केवल स्तोभ स्वरका। इससे 'रथन्तर' शब्दका अर्थ है—गानविशिष्ट ऋचा। इसपर हम कहेंगे कि ऋगक्षर व्यतिरिक्त विशेष स्वरोंसे सम्पन्न गान ही रथन्तर है। कैसे ? लाघवसे। और कवती ऋचाओंमें अतिदेश करना उचित है; न कि ऋचाकी ऐसी योग्यता है, क्योंकि 'कयानश्चित्र' और 'अभि त्वा' इत्यादि दोनों ऋचाएँ एक साथ आधार और आधेय भावसे नहीं पढ़ी जा सकतीं। अतः 'रथन्तर' शब्दका अर्थ गानविशेष ही है।

फिर भी नवें अध्यायके दूसरे पादके प्रथमाधिकरणके प्रथम वर्णकमें 'साम' शब्दको गानमात्रका वाचक बताया गया है—

'सामोक्तिबृहदाद्युक्तौ गीतायामृचिकेवले।
गाने वा गान एवेति स्मार्यते सप्तमोदितम्॥'

—सामान्यवाचक 'साम' शब्द और विशेष अर्थका द्योतन करानेवाले बृहत्, रथन्तर आदि शब्द गान मात्रका बोध कराते हैं, न कि गानविशिष्ट ऋचाका—यह नियम सातवें अध्यायके दूसरे पादमें ही बताया है, उसीका यहाँ प्रकृत विचारमें उपयोगी होनेके कारण स्मरण कराया जा रहा है।

'साम' शब्दवाची गानका स्वरूप ऋचाके अक्षरोंमें कुष्ट आदि सात स्वरों और अक्षर-विकारोंके द्वारा निष्पन्न होता है। कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ—ये सात स्वर हैं। इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं। स्वर सामको निष्पन्न करते हैं, यह बात छान्दोग्य उपनिषद्[1] के पहले प्रपाठकमें प्रश्नोत्तरके माध्यमसे कही गयी है—**'सह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दालभ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच।'**

—शिलक और शालावत्यने एकितायन दालभ्यसे कहा—'हम आपसे कुछ पूछना चाहते हैं ?'

'पूछो'—दालभ्यने उत्तर दिया।

—'सामका क्या स्वरूप है ?'

'स्वर'—उन्होंने उत्तरमें कहा।

---

१. छा० उप० ८.३.४।

काण्वोंके अनुसार उद्गीथ विद्यामें स्वर सामसम्बन्धी सर्वस्वस्थानीय और शोभनवर्ण स्थानीय हैं—'**तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य एवं तस्य स्वर एव स्वम्।**'[1]

तथा—'**तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णम्।**'[2]

सामका निष्पादन अक्षर-विकार इत्यादि करते हैं; यह बात शवरस्वामीने नवमाध्याय-के द्वितीयपादगत सातवें अधिकरणके '**अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्यात्**'[3] सूत्रकी व्याख्या करते हुये स्पष्ट ही कही है—

'**सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः। आह कतमे गीत्युपाया नाम ? उच्यते—गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तर प्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका; सामशब्दाभिलप्या; सा नियत प्रमाणायामृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोभ इत्येवमादयः सर्वे सामवेदे समाम्नायन्ते।**'

—सामवेदमें सहस्रसंख्यक गीति-उपाय हैं। वे कौनसे गीति-उपाय हैं ? 'गीति' उस क्रियाको कहते हैं, जो आभ्यन्तर प्रयत्नसे उत्पन्न होती है और स्वरविशेषोंको अभि-व्यक्त करती है, इसका कथन 'साम' शब्दसे होता है। इसका गान निश्चित प्रमाणवाली ऋचामें किया जाता है। उस गीतिको सम्पन्न करनेके लिए ही सामवेदमें ऋगक्षर विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम, स्तोभ आदि बताये गये हैं।

इस विषयमें 'जैमिनिन्यायमालाविस्तर' में कहा गया है—

'**समुच्चेया विकल्प्या वा विभिन्ना गीतिहेतवः।**
आद्यः प्रयोगग्रहणात् अर्थैकत्वाद् प्रकल्पनम्॥'

पूर्वपक्ष—छान्दोग्यमें, तवल्कार आदि शाखा-भेदोंमें विलक्षण गीति-हेतु अक्षर-विकार आदि कहे गये हैं; कर्मानुष्ठानमें उन सभीका समुच्चय किया जाता है।

सिद्धान्ती—कैसे ?

पूर्वपक्ष—प्रयोगके वचनमें सभीका परिग्रहण किया गया है, इसलिए।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो। एक-एक शाखामें बताये गये अक्षर-विकार आदिसे अध्ययन-कालमें ही गीतिस्वरूप निष्पन्न होता है, क्योंकि निष्पत्तिलक्षणवाला प्रयोजन एक है। प्रयोग-वचनमें परिगृहीत होने पर भी व्रीहि और यवकी भाँति तथा बृहत् और रथन्तरके समान उसका विकल्पन होता है।

---

१. बृ० उप० १.३.२५।
२. वही १.३.२६।
३. सूत्र २७।

गीति-हेतुओंमें 'स्तोभ' अत्यन्त अप्रसिद्ध है, अतः उसके लक्षण पर वहीं उसी पादके ११वें अधिकरणमें विचार किया गया है—

'स्तोभस्य लक्षणं नास्ति किं वास्ति न विवर्णता ।
आधिक्यमप्यतिव्याप्तं विशिष्टं लक्षणं भवेत् ॥'

—स्तोभका लक्षण है अथवा नहीं है ? विवर्णता स्तोभका लक्षण नहीं, क्योंकि यह आधिक्य, अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे ग्रस्त है ।

विवर्ण होना 'स्तोभ' का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि 'स्तोभ'में वर्णविकार विपरीत वर्णके रूपमें होता है । **'अग्न आ याहि'**[1] में 'अ' के स्थान पर 'ओ' करके इस ऋचाका पाठ करते हैं—**'ओग्नायि**[2] ।' यदि हम यह लक्षण करें कि अधिक वर्ण स्तोभ है, तो इसकी अतिव्याप्ति अभ्यासमें भी होगी, क्योंकि **'पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा'**—इस ऋचामें **'दतुत्वा'** अक्षरोंका गानकालमें तीन बार अभ्यास किया जाता है । अतः विकार और अभ्यासमें अतिव्याप्त होनेसे यह स्तोभका लक्षण नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो । स्तोभका यही लक्षण है—**'अधिकत्वे सति ऋग्विलक्षण वर्णः स्तोभः ।'** लोकमें भी, सभामें ठगके द्वारा केवल समय बतानेकी दृष्टिसे कही गयी शब्दराशि 'स्तोभ' कहलाती है । अतः स्तोभका लक्षण है (यह कहना ठीक नहीं कि उसका लक्षण ही नहीं है) ।

अक्षर-विकारशील स्तोभ की भाँति कहीं पर वर्णलोप भी गीतिका निमित्त होता है । इसका विचार नवमाध्यायगत प्रथम पादके १८वें अधिकरणमें किया गया है—

'इरा गिरा विकल्पः स्यादुतैरवा विशेषतः ।
आद्यो नैवं बाधपूर्वमिराया विहितत्वतः ॥'

ज्योतिष्टोम-प्रसंगमें सुना जाता है—**'यज्ञायज्ञीयेन स्तुवीत ।'** 'यज्ञायज्ञा शब्दयुक्त ऋचामें उत्पन्न साम 'यज्ञायज्ञीय' है । उसी ऋचामें 'गिरा' शब्द आया है—**'यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।'** यहाँ योनिगान करनेवाले सामगातागण गकारके साथ ही गाते हैं—**'गायिरा गिरा ।'** ब्राह्मणमें पहले गकारका लोप बताकर 'आ' और 'य' का गान विहित है—**'ऐरं कृत्वोद्गेयम् ।'** 'गिरा' मेंसे यदि 'ग' का लोप कर दिया जाये, तो 'इरा' शेष रहता है । 'इरा' से सम्बन्धित गान हुआ 'ऐरगान' । अनुष्ठान या प्रयोगके समय ऐसा करके ही गाना चाहिये । योनिगान और ब्राह्मण दोनों समान बलवाले हैं । यहाँ विशेषका अभाव है, इस कारण यहाँ क्या वैकल्पिक प्रयोग विहित है ?

---

१. छ० आ० १.१.१ ।

२. गेयगान १.१.१ ।

सिद्धान्ती—'गिरा' को 'गिरा' ही नहीं कहना चाहिये। जो उद्गाता 'गिरा' को 'गिरा' ही कहता है, वह अपनेको ही गिरा देता है—

'न गिरा गिरेति ब्रूयात्, यद् गिरा गिरेति ब्रूयाद् आत्मानमेव तद्गुद्गाता गिरेत्।'

यहाँ गकारसहित 'गिरा' पदका गान वर्जित है; गकाररहित 'इरा' ही गेय है। पद-के प्रथमाक्षर 'इ' के स्थान पर गानके लिए 'आ, य' और 'इ', इन तीन वर्णोंका प्रयोग किया जाता है और उसके बाद 'आयिरा' ही गया जाता है, गाना चाहिये।

उपर्युक्त प्रसंगको ध्यानमें रखकर कुछ विशेष विचार भी किया गया है—

'इरा पदं न गेयं स्याद् गेयं वा गीत्यनुक्तितः।
न गेयं गीयमानस्य स्थाने पातात् प्रगीयते।'

ब्राह्मण-विहित 'इरा' पदका गान नहीं करना चाहिये; क्यों? क्योंकि 'ऐर' पदसे गीतिका अभिधान नहीं होता। पाणिनिके **'विमुक्तादिभ्योऽण्'**[1] सूत्रके द्वारा 'इरा' शब्दसे मत्वर्थीय 'अण्' प्रत्ययका विधान किया गया है। ऐसा होने पर 'इरा पदसे युक्त करके'—यही अर्थ होता है। यदि गाये जा रहे 'इरा' शब्दको तद्धितान्त मानें, तब 'आ', 'य्', 'ई', 'र्' और 'आ'—इन पाँच वर्णोंसे निष्पन्न 'आयीरा' रूप ही गीयमान 'इरा' शब्दका प्रातिपदिक है। ऐसे प्रातिपदिकसे पाणिनिके **'वृद्धाच्छः'**[2] सूत्रसे दूसरा प्रत्यय लगनेपर 'आयिरीय' बनेगा, जो कि ब्राह्मण-पाठ होना चाहिये। अतः प्रश्न है कि क्या न गाया जाये? इसके उत्तरमें हम कहते हैं—'गीयमान 'गिरा' पदके स्थानपर 'इरा' पदके विधानसे केवल पदको बाधित किया गया है, न कि गानको। यही नहीं, **'विमुक्तादिभ्योऽण्'** सूत्रसे 'अण्'-प्रत्यय करने पर भी पहलेके **'मतौ छः सूक्तसाम्नोः'** से 'साम' का अनुवर्तन होता है, जिसका अर्थ है 'ऐर साम'। 'साम' होनेका अभिप्राय है गीतिसाध्य। और जब **'तस्य विकारः'**[3] सूत्रसे इस अर्थमें 'अण्' प्रत्यय लगकर 'इरायाः विकारः' विग्रहपूर्वक यही अर्थ निकलता है—ऐरगान। अतः गाना चाहिये।'

:०: :०: :०:

पहले हमने कहा है कि गीत्यात्मक साम ऋगक्षरोंका संस्कार करता है। सामवेदी प्रत्येक सामको एक-एक ऋचामें 'वेदसाम' नामक ग्रन्थमें पढ़ते हैं; 'ऊह' नामक ग्रन्थमें तीन-तीन ऋचाओंके साथ एक साम आता है। उसी पादके प्रथमाधिकरणके द्वितीय वर्णकमें इस ऊह ग्रन्थपर विचार किया गया है—

---

१. पा० सू० ५.२.६१।
२. वही ४.२.११४।
३. वही० ४.३.१३४।

'ऊहग्रन्थोऽपौरुषेयः पौरुषेयोऽथवाग्रिमः ।
वेदसाम समानत्वाद् विधिसार्थत्वतोऽन्तिमः ॥'

जिस ग्रन्थमें सामगान करनेवाले एक-एक तृचमें एक-एक सामका गान करते हैं, वही यह ऊह ग्रन्थ नित्य है, न कि पुरुषप्रणीत । कैसे ?

पूर्वपक्ष——क्योंकि अनध्याय-वर्जना तथा कर्ताका स्मरण न करानेसे और अध्यापकोंके मध्य वेदके रूपमें प्रसिद्ध होनेके कारण यह वेदसाम नामक योनिग्रन्थके समान है ।

सिद्धान्ती——'ऐसा मत कहो, क्योंकि अपौरुषेय होने पर विधि व्यर्थ हो जायेगी; विधि है——**'यद्योन्यां तदुत्तरयोगर्गायति'**——इसका यह अर्थ है कि वेदसाम नामक ग्रन्थमें, जो अपौरुषेय माना जाता है, योनिभूत **'कयानश्चित्र आ भुवत्'**——इस एक ही ऋचामें 'वामदेव्य' साम उपदिष्ट है; (ऊह ग्रन्थमें) उसी वामदेव सामका गान बादकी **'कस्त्वा सत्यो मदानाम्'** और **'अभीषु णः सखीनाम्'** इन दूसरी-तीसरी ऋचाओंमें करना चाहिये——यह विधि है; ऊह ग्रन्थको वेद माननेपर यह विधि व्यर्थ हो जायेगी (क्योंकि तब यह परिवर्तन नहीं किया जा सकता——जब कि 'ऊह' का अर्थ है ऊहन, मन्त्रोंका यथावश्यक परिवर्तन) । इसकी सार्थकता तो तभी है, जब 'वेदसाम' के समान ही ऊह ग्रन्थका भी अध्ययन किया जाये । उपर्युक्त दोनों ऋचाओंमें ऊह सामके पौरुषेय होनेपर भी सामस्वरूप और सामाधारभूत तीनों ऋचाओंका वेदके रूपमें अध्ययन न करना निषिद्ध है । चिरकालका व्यवधान होनेके कारण कर्ताका स्मरण नहीं रहा, जैसे लोग पुराने कुएँ और धर्मशालाएँ निर्माण करानेवालोंके नाम (कालान्तरमें) भूल जाते हैं, वैसे ही यहाँ भी हुआ । इस प्रकारकी विस्मृतिवश ही पढ़नेवाले भी उसे वेद मानते रहे, ठीक वैसे ही, जैसे महाव्रत प्रयोगके प्रतिपादक आश्वलायनरचित कल्पसूत्रको वनमें पढ़नेवाले ऋग्वेदी पञ्चमारण्यकके रूपमें उसे वेद समझ लेते हैं । वह वेद नहीं है, क्योंकि उसे प्रथमारण्यकमें ही फिर बताया गया है और अर्थवादोंके अभाववश वह ब्राह्मणके सदृश भी नहीं है । अतः पञ्चमारण्यकके समान ऊह भी पौरुषेय है; और पौरुषेयता न्यायमूलक है, जहाँ कहे जा रहे न्यायसे उसका विरोध हो, वहाँ वह मान्य नहीं है ।'

:०: :०: :०:

पूर्वपक्ष——सामवेदमें केवल ब्राह्मणभागकी व्याख्या करनी उचित है, मंत्रभागकी नहीं, क्योंकि वह गीत्यात्मक है । पद, वाक्यसे भिन्न स्वर और स्तोभ आदिके द्वारा साध्य गीतिमें क्रिया-कारक-योजनासे अभिव्यक्त होनेवाला कोई अर्थ ही नहीं होता । जिसे स्पष्ट करनेके लिए गीतिकी व्याख्या की जाये । और जो स्वर आदिके विशेष लक्षण बताकर गीतिकी व्याख्या की जाती है,वह पूर्ववर्ती आचार्योंने उन-उन लक्षणोंसे युक्त मंत्रोंमें पहले ही कर दी है, अतः उक्त क्षेत्रमें आपको प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं, फिर आप मंत्रोंकी व्याख्या क्यों कर रहे हैं ?

सिद्धान्ती—बता रहे हैं। गीति आधारहीन नहीं होती; वह ऋगाश्रित होती है। इसीलिए 'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा है—**'तस्माद् ऋचि अध्यूढं साम गीयते**[1]।' यह आधारभूत ऋचा भी मंत्र ही है—**'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'**—इसे भी यहाँ मंत्रविशेष कहा गया है। ऋगात्मक मंत्रका कर्ता, क्रिया आदिके रूपमें अन्वय करने पर उससे अर्थ अभिव्यक्त होता है और यज्ञानुष्ठानके समय उसका स्मरण करना चाहिये, इसलिए ऋचाकी व्याख्या अवश्य करनी चाहिये। प्रथमाध्यायगत द्वितीय पादके चतुर्थ अधिकरणमें यह निर्णय दिया गया है कि मंत्रोंके द्वारा अर्थका अनुस्मरण करना चाहिये—

'मंत्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥
ब्राह्मणेनापि तद्ज्ञानान्मंत्राः पुण्यैकहेतवः।
न तद्ज्ञानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः॥'

—**'उरु प्रथस्व'** इत्यादि मंत्रोंका उच्चारण क्या एकमात्र अदृष्ट-प्रयोजन हेतु होता है? अथवा यज्ञोंमें ये मंत्र पुरोडाश-प्रथन आदि अर्थोंकी प्रतीति कराते हैं? तात्पर्य यह कि यज्ञोंमें क्या मंत्रार्थ-विवक्षा रहती है?

पूर्वपक्ष—इन मंत्रोंके उच्चारणका प्रयोजन केवल अदृष्ट-प्राप्ति है, क्योंकि ब्राह्मण भागमें भी पुरोडाश-प्रथन आदिका उल्लेख है। ब्राह्मणगत उल्लेखोंको अव्यर्थ सिद्ध करनेके लिए मंत्रको केवल उच्चारणार्थक (अदृष्टमात्र) मानना ही उपयुक्त है।

सिद्धान्ती—अदृष्टकी अपेक्षा मंत्रार्थ-प्रतीतिरूप दृष्ट प्रयोजन मानना श्रेष्ठ है।

'उरु प्रथस्व' इत्यादि मंत्रका यह अर्थ है—'हे पुरोडाश! तुम (मूर्तिमती) विपुलताके सदृश फैलो।'

पूर्वपक्ष—इस प्रकारके मंत्र यज्ञानुष्ठानोंमें उच्चरित होने पर केवल अदृष्ट ही उत्पन्न करते हैं, इनका उच्चारण अर्थ-द्योतनके लिए नहीं होता, क्योंकि पुरोडाश-प्रथन इत्यादि विषयक अर्थज्ञान निम्नलिखित ब्राह्मण-वाक्यसे भी हो जाता है—**'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति।'**

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं; अर्थ-द्योतन रूप दृष्ट-प्रयोजनके होते हुये केवल अदृष्टकी कल्पना करना सम्भव नहीं है; अतः दिखायी देनेवाले अर्थका अनुस्मरण ही यज्ञानुष्ठानमें मंत्रोच्चारणका प्रयोजन है। ब्राह्मणवाक्यके द्वारा अर्थका अनुस्मरण सम्भव है, किन्तु 'मंत्रके द्वारा ही अनुस्मरण करना चाहिये'—इस नियमका पालन दृष्ट प्रयोजन मानने पर ही हो सकता है; (इसके अतिरिक्त) अदृष्ट-प्रयोजन (भी) हो सकता है, (उसमें हमें आपत्ति नहीं)।

---

१. छा० उप० १.६.१।

इसी अधिकरणमें दूसरे मतके द्वारा पूर्व और उत्तर, दोनों पक्ष कहे गये हैं—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्यद्वा कलहो विनियोजने ।
न मन्त्रलिङ्गसिद्धार्थमनुवक्तीतरद् यतः ।।'

पूर्वपक्ष—इस मंत्रका यदि मन्त्रलिङ्गसे विनियोग करते हैं, तो ब्राह्मण-वाक्य अविवक्षित हो जाता है और ब्राह्मण-वाक्यसे विनियोग करते हैं तो मंत्रलिङ्गकी विवक्षा नहीं होती। इस प्रकारसे दोनोंके विरुद्ध होनेके कारण चोदना (विधि)का प्रमाण्य नहीं रहता।

सिद्धान्ती—यह विरोध नहीं है, क्योंकि प्रबल लिङ्गसे विनियोग-सिद्धि हो जाने पर ब्राह्मण-वाक्य उसका अनुवाद ही करता है।

अर्थानुस्मरणके लिए जिनकी व्याख्या करनी चाहिये, वे सामयोनिभूत ऋचाएँ छन्दोसंहिता (साम-संहिता) नामक ग्रन्थमें समाम्नात हैं। यहाँ उन सभीकी व्याख्या आम्नानक्रमसे ही की जा रही है।

इन ऋचाओंका यज्ञोंमें स्वतंत्रतापूर्वक विनियोग नहीं है, क्योंकि उनका उपयोग ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थके द्वारा विनियुक्त सामोंके आधार रूपमें होता है। अतः ऋग्वेदके भाष्यकी भाँति सामवेद-भाष्यमें विशेष रूपसे विनियोगका अन्वेषण नहीं करना चाहिये। सामान्य रूपसे विनियोग यद्यपि ब्रह्म-यज्ञका विषय है,फिर भी सम्पूर्ण वेदका विनियोग एक होनेके कारण यहाँ उसे खोजनेके लिए विशेष प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं।'

सामवेदके ताण्ड्यमहाब्राह्मणकी भाष्य-भूमिकासे—

.....

'व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदेऽपि संहिता ।
व्याख्याताब्राह्मणव्याख्याङ्गुरोत्यौद्गात्र बुद्धये ।।
पञ्चविंशतिरध्याया महति ब्राह्मणे स्थिताः ।
आद्येऽध्याये श्रुता मन्त्रा उद्गातुर्य्यजुरात्मकाः ।।
ये तु मन्त्राः स्तोत्ररूपा उत्तरासु तृचेषु ते ।
योनिवद्गानमूहित्वा पठ्यन्ते तद्विधेर्वशात् ।।
यद्योन्यां गानमाम्नातं तदेवोत्तरयोर्ऋचोः ।
गायेदितिस्तोत्रकृप्तौ साम्नामूहो विधीयते ।।
आवृत्तियुक्तं तत्साम स्तोम इत्यभिधीयते ।
द्वयोरध्याययोः स्तोमप्रकारा बहुधा श्रुताः ।।
चतुर्थाध्यायमारभ्य गवामयनिकादयः ।
क्रतूनां विधयः प्रोक्ता एषोऽस्मिन् ब्राह्मणे क्रमः ।।

प्रथमाध्यायगा मन्त्रा विनियोगपुरःसरम् ।
व्याख्यायन्ते सर्वसोम-यागेष्वेतेऽङ्गताङ्गताः ॥

——ऋग्वेद और यजुर्वेदकी व्याख्या करनेके बाद साम-संहिताकी भी व्याख्या की गई। अब उद्गाताके गान-हेतु साम-ब्राह्मणकी व्याख्या की जा रही है। इस महाब्राह्मणमें कुल २५ अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें उद्गाताके लिए पठनीय गद्यात्मक मंत्र हैं। बादके तृचोंमें स्तोत्र रूप मंत्र हैं; विधानके अनुसार उनका पाठ योनिवद् ऊहन करके किया जाता है। योनिमें बताया गया गान बादकी ऋचाओंमें गाना चाहिये——इस प्रकारसे स्तोत्रकल्पनामें सामोंके ऊहोंका विधान किया जाता है। आवृत्तियुक्त सामको 'स्तोम' कहते हैं। 'स्तोम' के बहुतसे भेद दो अध्यायोंमें बताये गये हैं। चौथे अध्यायसे लेकर गवामयनिका तक यज्ञ-विधियाँ बतायी गयी हैं——यही इस महाब्राह्मणका क्रम है। प्रथमाध्यायगत मंत्र सभी सोमयज्ञोंके अंग हैं, उनसे सम्बद्ध हैं——अतः उनकी व्याख्या विनियोग-निरूपणपूर्वक की जाती है।

क्रतु-प्रकरणमें पठनीय पाठ न होनेके कारण प्रथम अध्यायके **'महन्मे बोचः'** इत्यादि मंत्रोंका यज्ञसे सम्बद्ध होना क्या अनुपयुक्त है ? चतुर्थ अध्यायसे क्रतु-प्रकरण है। चौथे और पाँचवें अध्याय गवामयन नामक संवत्सर सत्रके प्रकरण हैं, उन्हीं अध्यायोंमें **'गावो वा एतत्सत्रमासत'** इत्यादि रूपमें गवामयनका उल्लेख है। छठे अध्यायमें **'अग्निष्टोममपश्यत्'** से लेकर उसी अध्यायका वर्णन है। इसी प्रकारसे बादमें भी क्रतु-प्रकरण समझना चाहिये। अतः पूर्वपक्षके अनुसार प्रथमाध्यायगत मंत्र और द्वितीय-तृतीय अध्यायमें विष्टुतियोंका वर्णन किसी क्रतुके आरम्भसे नहीं है, इसलिए इनका क्रतुसे सम्बद्ध होना उपयुक्त नहीं है।

सिद्धान्ती——ऐसा मत कहो। **'अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वं'** न्यायसे वे क्रतुके अङ्ग सिद्ध होते हैं। यह न्याय तीसरे अध्यायके षष्ठ पादके प्रथमाधिकरणमें पर्णवाक्यका उदाहरण देकर समझाया गया है——

'प्रकृतौ विकृतौ वा स्याद्यस्य पर्णेत्यसौ विधिः ।
प्रकृतावेव वा तुल्यादृचनाद्उभयोरसौ ॥
जुहूमाश्रित्यपर्णत्वविधिः प्रकृतिमात्रगः ।
नोदकेनोभयप्राप्तेर्विकृतौ विधिनात्र किम् ॥'

बिना आरम्भ किये सुना जाता है——**'जिसकी पर्णमयी जुहू होती है, वह पापश्लोक नहीं सुनता।'**

——अव्यभिचरित क्रतु-सम्बन्धवाली जुहूको आधार बनाकर उसके हेतुभूत पर्णवृक्षका विधान वाक्यसे किया जाता है——'जो जुहू, वह पर्णमयी।' यह वाक्य प्रकृति और

विकृति दोनोंमें एक साथ प्रवृत्त होता है; क्योंकि दोनों स्थानों पर ही जुहू आधार रूपमें रहती है। हमारा कहना है कि इस विधिका विकृतिमें नोदकसे पहले निवेश होता है या बादमें ? पहले नहीं, क्योंकि आधारभूत जुहूका नोदकके बिना होना असम्भव है। दूसरे, नोदकके द्वारा पर्णताका अतिदेश भी जुहूके साथ ही किया जाता है, फिर वहाँ विधिके व्यर्थ हो जानेके कारण विधि केवल प्रकृतिमें ही प्रवृत्त होती है। इसके उदाहरण हैं—
'यस्य खादिरः स्रुवो भवति।'

प्रश्न है कि प्रकृति और विकृति क्या है ? किसे प्रकृति कहते हैं और किसे विकृति ? बतला रहे हैं—प्रकृति वह है, जहाँ समग्र कर्तव्य कर्मका उपदेश प्रकृष्ट रूपसे और दूसरे कर्मोंकी अपेक्षा बिना ही किया जाता है। जहाँ श्रुतिके द्वारा उपदिष्ट होता है कि यह विशेष रूपसे कर्तव्य है, शेष सब कुछ दूसरे कर्मसे अतिदेश कर लिया जाता है, वह विकृति है। यह अतिदेश प्रत्यक्ष श्रुति-वचनसे, सादृश्यसे अथवा लिङ्गसे होता है। इन सभी विषयों पर सातवें और आठवें अध्यायोंमें अनेक प्रकारसे विचार किया गया है।

प्रकृतिके दो प्रकार हैं—१. मूल प्रकृति और २. अवान्तर प्रकृति। मूल प्रकृति पूर्णरूपसे अन्य कर्म निरपेक्ष होती है। अवान्तर प्रकृतिके कुछ अंग कर्मान्तर सापेक्ष होते हैं, दूसरे कर्मोंमें भी कहीं-कहीं उस (अवान्तर प्रकृति) की अपेक्षा रहती है। मूल प्रकृतिके भी तीन प्रभेद हैं। उन पर अष्टमाध्यायगत प्रथमपादके तंतीयाधिकरणके दूसरे वर्णकमें विचार किया गया है—

'इष्ट्यग्निहोत्रसोमानां मूल प्रकृतिता नहि।
अस्ति वा नालौकिकत्वाद् इयत्तानवधारणात्॥
लोकवत् सन्निपत्यारात् उपकारिद्वय श्रुतेः।
इयत्तायां निश्चितत्वान्मूलप्रकृतिता त्रिषु॥'

पूर्वपक्ष—अलौकिक रूपसे इन अंगोंके द्वारा सम्पूर्ण उपकारका निश्चय करना अशक्य होनेके कारण इष्टि आदि मूल प्रकृति नहीं हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो; इष्टियाँ लौकिक साम्य होनेके कारण मूल प्रकृति हैं। जैसे लोककी भोजन-क्रियामें ओदन करण है; शाक व सूप आदि उसी ओदनमें मिलकर उसे उपकृत करते हैं; पीढ़ा और प्रदीप आदि दूरसे (आरात्) उस क्रियाके उपकारक हैं, उसी प्रकारसे भावनामें याग करण है; अवघात आदि सन्निपाती हैं—मिलकर उपकृत करते हैं, प्रयाजादि दूरतः (आरात्) उपकारी हैं, अतः आत्यन्तिक अलौकिकता है। लौकिक इयत्ताका निश्चय प्रत्यक्षसे होता है; वैदिक इयत्ताका निश्चय श्रुतिके द्वारा करना चाहिए। इसलिये इष्टि, अग्निहोत्र और सोमयज्ञादि मूल प्रकृति हैं। इन्हीं प्रकृतियोंमें **'महन्मेवोचः'** इत्यादि मंत्रोंका अङ्गरूपसे प्रवेश समझना चाहिये, क्योंकि प्रकृतित्व वहीं

मुख्य है; **'सोमं गमेयम्'** इत्यादि लिङ्ग सम्भव हैं; ऋषियोंने ब्राह्मणोंमें अनेकविध विनियोग सूचित किये हैं। मंत्रोंकी व्याख्या करते समय हम यथायोग विनियोग-प्रदर्शन करेंगे। जिसका मत है कि यह सोमयाग प्रकरण है, उसे कोई भी सन्देह नहीं है।

सोमयागमें ऋषियोंका वरण ऋत्विक्के रूपमें करना चाहिये, जैसा कि आपस्तम्बका कथन है—**'सोमेन यक्ष्यमाणो ब्राह्मणानार्षेयान् ऋत्विजो वृणीते'**—सोमयज्ञ करनेका इच्छुक व्यक्ति आर्ष ब्राह्मणोंका वरण ऋत्विक् रूपमें करे।

आश्वलायनने भी सोमयागके पहले दर्श और पूर्णमास इष्टियाँ बताकर दूसरे पक्षको रखते हुये इस प्रकारसे कहा है—**'प्रागपि सोमेनैके, तस्यर्त्विजः, चत्वारश्चत्वारस्त्रिपुरुषाः, तस्य-तस्योत्तरे त्रयः, होतामैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुदध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंस्याग्नीध्रः पोतोद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्त्ता सुब्रह्मण्य इति, एतेऽहीनैकाहैर्या-जयन्ति, तत एवाहिताग्नय इष्ट्वा प्रथमयज्ञागृहपति, सप्तदशा दीक्षित्वा समीप्याग्नीस्त-न्मुखाः सत्राण्यासते।'**[1]

इसका यह अर्थ है—दर्श और पूर्णमास इष्टियाँ करके यजमान पहले अथवा बादमें सोम यज्ञ करे; उस सोमयागके चार मुख्य ऋत्विक् होते हैं—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता। इनमेंसे प्रत्येकके साथ तीन-तीन पुरुष होते हैं। ये होता इत्यादि १६ ऋत्विक् अहीनसंज्ञक द्विरात्रादि और एकाहसंज्ञक अग्निष्टोमादि यज्ञ कराते हैं। ये १६ ऋत्विक् स्वयं ही आहिताग्नि होते हैं, ये प्रथमयज्ञ अग्निष्टोमसे यजन करके, १७वें गृहपतिके सहित द्वादशाह आदि सत्रोंके निमित्त दीक्षा लेकर, अपनी अपनी अग्नियोंको इकट्ठा रखकर, प्रमुख सत्रोंका अनुष्ठान करें। इन एकाह और अहीनसत्रात्मक सोमयागोंके होता आदि ऋत्विकोंके सामान्य लक्षण सामवेदी सूत्रकार महर्षि द्राह्यायणने बताये हैं—

'ऋत्विगार्षेयोऽनुचानः साधुचरणो वाग्म्यन्यूनाङ्गेऽनतिरिक्ताङ्गः।'[2]

—ऋत्विक् वही हो सकता है, जो ऋषि हो, वेद-वेदाङ्गपारङ्गत हो, श्रेष्ठ आचरण-वाला हो, वाग्मी हो। उसके अङ्गोंमें न तो कोई कम हो और न ही अधिक।

ऐसे गुणवान् ऋत्विक्का वरण करनेके लिए यजमान सोमप्रवाक्को प्रेरित करे। सोमप्रवाक् वह है, जो प्रकृष्ट रूपसे ऋत्विक्को सोमयागका वृत्तान्त बतलाता है। वह वरण किये जा रहे ऋत्विक्के समीप जाकर कहे—**'अस्मदीयो यजमानः सोमेन यजते, स त्वां प्रत्यार्त्विज्यमर्थयते।'**—हमारा यजमान सोमयज्ञ कर रहा है; वह प्रार्थना करता है कि आप उसमें ऋत्विक् बनें।

---

१. आश्व० श्रौ० ४.१.२–८।

२. द्राह्यायण श्रौत सूत्र १.१.७।

इस पर यदि प्रार्थ्यमान पुरुष ऋत्विक् न बनना चाहे, तो वह सोमको नमस्कार करके निषेध कर दे। निषेधसे लगनेवाले पापका निवारण करनेके लिए ही नमस्कार किया जाता है। इस पापके विषयमें ऐसा सुना जाता है—**'यशसा वा एषोऽभ्येति य आर्त्विज्येन चरति, तद्यः प्रतिरुन्धे यशसा प्रतिरुन्धे।'**[1]

—जो ऋत्विक् बनता है, वह यशके साथ आगे बढ़ता है और जो आर्त्विज्य अस्वीकार कर देता है, वह अपने यश पर ही रोक लगा देता है।

और अगर वह ऋत्विक्-कर्म करना चाहे तो सोमप्रवाक्से सोमयज्ञविषयक सारी कुशल पूछकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करता हुआ **'महन्मे वोचः'** इत्यादि मंत्र जपे। द्राह्यायणने इस प्रसंगको यों सूत्रबद्ध किया है—**'सोमप्रवाकमकरिष्यन्नमः सोमाय राज्ञ इत्युक्त्वा प्रत्याचक्षीत महन्मे वोच इति करिष्यन् प्रतिमन्त्रयेत्।'**[2]

आपस्तम्बके शब्दोंमें—**'ऋत्विजो वृणीते यूनः स्थविरान्वानूचानानूर्ध्ववाचोऽनङ्गहीनांस्तेभ्यः सोमं प्राह तं पृच्छति क ऋत्विजः के याजयन्ति कच्चिन्नाहीनः कच्चिन्नन्यसामार्त्विज्यं कच्चित् कल्याण्यो दक्षिणाइति छन्दोग ब्राह्मणं भवत्यथ जपति महन्मे वोच इति।'**

यद्यपि आपस्तम्बके कथनानुसार इस मंत्रका जप सभी ऋत्विजोंको सामान्य रूपसे करना चाहिये, फिर भी यहाँ द्राह्यायणने अपनी परिभाषाके अनुसार उद्गाताको ही लक्षित कर उसके सोमप्रवाकविषयक प्रतिमन्त्रणका विधान किया है। परिभाषा यह है—**'एकश्रुतिविधानान्नमन्त्रान् कर्माणि च उद्गाता एव कुर्यादनादेशे'**[3]—इसका यह अर्थ है—अनादेश होने पर सामवेदोक्त मंत्रोंका पाठ एवं कर्म उद्गाता ही सम्पन्न करे। कैसे? एक कर्ताका निर्देश-विधान होनेके कारण। **'प्रतिमन्त्रयेत्'** में एकवचनका विधान उद्गाताके लिङ्गसे ही किया गया है।

पूर्वपक्ष—उद्गाताके पुरुष (प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य) भी तो सामवेदोक्त कर्म करनेके अधिकारी हैं, न कि केवल उद्गाता ही।

सिद्धान्ती—अवश्य! फिर भी उनके वरणका नियम नहीं है, वरण तो होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाताका ही नियत है। आपस्तम्बका भी यही कथन है—**'तान्वृणीते चतुरः सर्वान्वैकैकशः।'** ऐसा होने पर अर्थात् प्रस्तोता आदिका वरण न होनेके कारण द्राह्यायण यही मानते हैं कि उपर्युक्त मंत्रका पाठ उद्गाता करे। यदि वे प्रस्तोता आदिका वरण मानते होते तो उन्होंने अपनी परिभाषाके अनुसार यह आदेश दिया होता

---

१. तै० सं० ६.४.२.२।

२. द्राह्यायण श्रौतसूत्र १.१.१.२।

३. वही १.१.४।

कि 'प्रस्तोताप्रतिमंत्रण करे'; किन्तु ऐसा आदेश नहीं मिलता; इस प्रकार यही समझना चाहिये कि वे उद्गाताका ही वरण और प्रतिमंत्रण मानते हैं।

पूर्वपक्ष——उस मंत्रके आदि **'महन्म'** का ज्ञान तो प्रतीक-ग्रहणसे हो जाता है, किन्तु उसके अन्तका ज्ञान कैसे हो ?

सिद्धान्ती——हमारा कथन है कि अन्तका ज्ञान उत्तरवर्ती मंत्रके आदिग्रहणसे हो जाता है; बादवाले मंत्रका प्रारम्भ ही पहलेवालेकी समाप्तिका लक्षण है।[1] सूत्रकारने यही परिभाषा दी है। यहाँ सूत्रकार **'देवो देवम्'** के रूपमें उत्तरवर्ती मंत्रके प्रारम्भिक अंशको ग्रहण करते हैं, इससे **'भुक्षिसीय'** को पूर्वमन्त्रका अन्त समझ लेना चाहिये।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणके चतुर्थ प्रपाठककी भाष्यभूमिका से——

स्तोमानां दशरात्रस्य प्रोक्ता विष्टुतयः क्रमात्।
गवामयनिकानां च ता एवेत्यवगम्यते॥
शतानि त्रीणि षष्टिश्च विषुवांश्च चतुर्थके।
प्रोक्तानि गव्यसत्रस्य स्तुत्याहानि क्रमादिह।
तानि संगृह्य वक्ष्यन्ते बुद्धिव्युत्पत्तिसिद्धये॥

——दशरात्रके स्तोमोंकी विष्टुतियाँ क्रमसे बता दी गयीं। जान पड़ता है कि वही गवामनयिकाओंकी भी विष्टुतियाँ हैं। चतुर्थ प्रपाठकमें गव्यसत्रके ३६० स्तुत्य दिन और एक विषुवान् दिन बताये गये हैं——उन्हें हम यहाँ बुद्धि-व्युत्पत्तिकी सिद्धि-हेतु संग्रह करके बता रहे हैं।

गवामयन दो प्रकारका है——१. दस मासोंमें साध्य और २. बारह मासोंमें साध्य। १२ महीनोंमें सम्पन्न होनेवाले गवामयन का प्रायणीय अतिरात्र प्रथम दिन है, उसके बाद चौबीसवें उक्थका आरम्भ करना चाहिये; इन दोनों दिनोंके अनुष्ठानके उपरान्त **'ज्योतिर्गौरायुर्गौः आयुर्ज्योतिः'**——यह आभिप्लविक षडह है। इसकी आवृत्ति चार बार करनी चाहिये। इसके बाद त्रिवृत आदि सोमषट्कके द्वारा साध्य पृष्ठ्यषडह है। इस प्रकारके पाँच षडहोंसे एक मास पूरा हो जाता है। इसकी आवृत्तिके द्वारा पाँच मासोंका सम्पादन करना चाहिये। इसके बाद छठे मासके प्रारम्भमें तीन अभिप्लव षडहोंका अनुष्ठान करना चाहिये; उसके बाद एक पृष्ठ्यषडहका; फिर एक अभिजित् दिनका, तीन स्वर-सामोंका——इस प्रकारसे १८ दिन हो जाते हैं। प्रारम्भके प्रायणीय और चतुर्विंशसे छठा मास पूरा हो जाता है। पूर्वपक्षकी दृष्टिमें इस प्रकारसे १८० दिन सम्पन्न हो जाते हैं। तदनन्तर एक विषुवान् दिनका अनुष्ठान करना चाहिये——वही इस सत्रका प्रधान कार्य

---

१. द्रष्टव्य, यज्ञपरिभाषा, सूत्र ५२।

है। सातवें महीनेके प्रारम्भमें तीन स्वरसामोंको प्रतिलोम विधिसे सम्पन्न करना चाहिये। उसके बाद विश्वजित्से आवृत्त पृष्ठ्यषडह तैंतीसवाँ आरम्भ है, वह त्रिवृतोंमें उत्तम है। इसके बाद तीन अभिप्लव षडहोंकी आवृत्ति होती है—यों २८ दिन हो जायेंगे। इसके बाद कहे जानेवाले महाव्रत और अतिरात्र दिनोंसे यह मास पूरा हो जायेगा, जो सातवाँ मास होगा। इसके बाद पृष्ठ्य षडह है, पहलेके चार आभिप्लविकोंका प्रतिलोमक्रमसे अनुष्ठान करने पर आठवाँ मास पूरा होगा। इसीकी आवृत्तिसे नवें, दसवें और ११वें मासोंका सम्पादन भी करना चाहिये। १२वें महीनेके प्रारम्भमें तीन अभिप्लव षडह हैं, उसके बाद गौ और आयुष् नामक दो दिन हैं—इसमें द्वादशाहके दस दिन मिलानेसे तीस दिन पूरे हो जाते हैं—यह १२वाँ मास है। इसके अनन्तर महाव्रतके अन्तिम दिनसे पहलेवाला दिन होता है। उसी से उदयनीय और अतिरात्र ये सातवें मासके पूरक हैं।'

ताण्ड्यमहाब्राह्मण-भाष्यके अन्तमें 'जैमिनिन्यायमाला' के षष्ठाध्यायगत सातवें पादके अन्तका कुछ अंश उद्धृत किया गया है। इसमें आयुपर विचार किया गया है—

'सहस्रसंवत्सरं सत्रं गन्धर्वादेर्नृणामुत।
रसायनेन सिद्धानां कुलकल्पोऽथवोक्तितः॥
तदायुर्वाथ सार्द्धद्विशतानामृतमासगाः।
वत्सरोक्तिरुत द्वादशरात्रिषु दिनेषु वा॥
आद्यो दीर्घायुषः सत्रान् नृणामेवाग्निसम्भवे।
द्वितीयोऽस्तु रसस्यायुरहेतुत्वे तृतीयकः॥
कृत्स्नकर्तुः फलित्वेऽस्तु तूर्योऽर्थासम्भवे सति।
पञ्चमोऽस्तु चतुर्विंशत्युत्तमाः सत्रिणो यदि॥
षष्ठोऽस्तु यो मास एष संवत्सर इतीरणात्।
सहस्रमासानाधानादूर्ध्वं वेदस्तु सप्तमः॥
वत्सरप्रतिमा द्वादशरात्रय इति श्रुतेः।
नरात्रिष्वब्दशब्दोऽत्र प्रतिमाया विशेषणात्॥
स्वारस्यात् त्रिवृदायुक्तेरष्टमः पक्ष इष्यते॥
त्रिवृदादिपदैः स्तोम विशिष्टमहरुच्यते॥
नाहःसङ्गस्ततोऽहःसु गौणी संवत्सराभिधा।
तस्माद्विश्वसृजां सत्रे सहस्रदिनमिष्यते॥'

ताड्यमहाब्राह्मणमें कहा गया है—'**पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चाशत एकविंशाः, विश्वसृजा उ सहस्रसंवत्सरम्।**'[1]

---

१. ताण्ड्यमहाब्राह्मण २५.१८.१।

एक पक्ष—सहस्रसंवत्सर सत्र करनेके अधिकारी केवल गन्धर्व हैं, क्योंकि वही दीर्घायु होते हैं

दूसरा पक्ष—**'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत'** के अनुसार आहवनीय अग्निका आधान केवल मनुष्य ही कर सकते हैं, न कि गन्धर्व आदि अन्य लोग। इस कारण रसायनसिद्ध दीर्घायु मनुष्योंको ही सहस्रसंवत्सर सत्र करनेका अधिकार है।

तीसरा पक्ष—रस-रसायन मनुष्यको नीरोग और पुष्ट तो कर सकते हैं, लेकिन आयु नहीं प्रदान कर सकते। फिर एक ही कुलमें उत्पन्न होनेवाले पिता, पुत्र और पौत्र आदिकी सम्मिलित आयु तो हजार वर्षकी होगी—अतः सहस्रसंवत्सर सत्र करनेका अधिकारी कुलको क्यों न मान लिया जाये ?

चौथा पक्ष—फल सम्पूर्ण कार्य करनेवालेको मिलता है। पिता, पुत्र और पौत्रादि—इनमेंसे कोई भी सम्पूर्ण कार्य नहीं सम्पन्न करता, अतः कुलको अधिकारी मानना ठीक नहीं। फिर सत्रका विधान करनेवाले वचनोंके बलसे याज्ञिकोंकी दीर्घायु तो होगी। (अतः उन्हें सत्राधिकारी क्यों न मान लिया जाये ?)

पाँचवाँ पक्ष—वाचक पदका अभाव होने और उसकी कल्पना न की जा सकनेके कारण इस वचनका वह अर्थ नहीं हो सकता। दीर्घायुकी संभावनावाले व्यक्ति भी जब दूसरे यज्ञोंमें प्रवृत्त हुये और नियतिवश उनकी मृत्यु हो जानेपर यह देखा गया कि उस सत्र-विधानके बलसे उनकी आयु बढ़ गयी। इस कारण 'पञ्चपञ्चाशत्' शब्दको पुरुषपरक मानकर यह मान लिया जाये कि २५० लोग यज्ञ करनेके अधिकारी हैं। इन २५० लोगोंके चार वर्ष तक यज्ञ करने पर हजार वर्ष पूरे हो जायेंगे।

छठा पक्ष—**'चतुर्विंशतिः परमाः सत्र मासीरन्'** वचनके अनुसार अधिक लोग यज्ञ करनेके अधिकारी नहीं हो सकते—फिर **'यो मासः स संवत्सरः'** वचनके अनुसार 'संवत्सर' शब्दका अर्थ 'मास' लेने पर 'सहस्रमाससत्र' क्यों न मान लिया जाये ?

सातवाँ पक्ष—आठवें वर्षमें बालकका उपनयन होगा; तदनन्तर १२ वर्ष वेद पढ़ेगा। यों २० वर्षकी आयुमें अग्न्याधान करेगा। २० वर्षकी आयुके अनन्तर उसकी आयु हजार मासकी और नहीं होगी। हजार मास अर्थात् ८३ वर्ष ४ मास। फिर **'संवत्सरस्य प्रतिमा वै द्वादशरात्रयः'** वचनके अनुसार 'संवत्सर' शब्दका अभिप्राय 'द्वादश रात्रि' के लिया जाये, तब १२ हजार रात्रियाँ हो जायेंगी। तब यह सहस्रसंवत्सर यज्ञ तैंतीस साल चार मासोंमें पूरा हो जायेगा। अग्न्याधानके अनन्तर भी आदमीके पास इतने वर्ष रहते हैं।

आठवाँ पक्ष—**'संवत्सरस्य प्रतिमा वै द्वादशरात्रयः,** वाक्यमें 'संवत्सर' शब्द रात्रिपरक नहीं है। वह तो 'प्रतिमा' का विशेषण है। अतः सातवाँ पक्ष ठीक नहीं। यहाँ 'संवत्सर' शब्दको यदि दिनपरक मान लिया जाये (तो समस्या सुलझ सकती है)। ऐसा माननें

पर 'त्रिवृतः संवत्सराः' प्रभृति वाक्योंका औचित्य भी प्रमाणित हो जायेगा। त्रिवृत् पन्द्रह, सत्रह, इक्कीस——ये शब्द स्तोमवाचक होते हुए स्तोमयुक्त एक-एक दिनमें यागरूपसे लक्षणाशक्तिके द्वारा अन्वित होते हैं; सत्रोंमें इस प्रकारका प्रयोग-बाहुल्य होनेके कारण अहःसंघमें कहीं भी त्रिवृत् आदि शब्दोंका प्रयोग नहीं हुआ है; और इन शब्दोंके साथ सामानाधिकरण्य होनेके कारण 'संवत्सर' शब्द अपने अंगभूत दिनमें अवयवलक्षणासे विद्यमान है; 'त्रिवृतः संवत्सराः' कहनेका अर्थ है त्रिवृत् स्तोमोंवाले यागसे युक्त दिन। अतः ऋषियोंका यही सिद्धान्त है कि यह विश्वस्रष्टा——अयन सत्र सहस्र दिनमें सम्पन्न होनेवाला यज्ञ है।

षड्विंश ब्राह्मणकी भाष्यभूमिकासे——

व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदेऽपि संहिता।
व्याख्याता; ब्राह्मणं चाद्यं प्रौढं व्याख्यातमादरात्।
अथ द्वितीयं षड्विंशब्राह्मणं व्याचिकीर्षति॥'

——ऋग्वेद और यजुर्वेदकी व्याख्या करनेके बाद सामवेद-संहिताकी व्याख्या की। सामवेदके ताण्ड्य महाब्राह्मण, जो पहला है, की भी आदरपूर्वक व्याख्या की। अब हम इस वेदके दूसरे प्रमुख ब्राह्मण 'षड्विंश' की व्याख्या करना चाहते हैं।

इस ताण्डिशेष ब्राह्मणमें पूर्वोक्त कर्मोंका (निरूपण ही हुआ है)। कहे गये कर्मोंके भेद इस प्रकारसे हैं——सर्वप्रथम सुब्रह्मण्यका कार्य बताया जा रहा है। सवनत्रयमें भी उसे ही जानना चाहिये। उसके बाद ब्रह्माका कार्य। फिर व्याहृतिहोमादि नैमित्तिक प्रायश्चित्त। फिर सौम्य चरुविधि। तदनन्तर बहिष्पवमानके धर्म। तदुपरान्त कुछ प्रकीर्ण विषय। होत्रादि उपहव। फिर ऋत्विक्-कर्मोंका विधान। नैमित्तिक होम। अध्वर्यु-प्रशंसा। देव-यजनमें ज्ञातव्य कर्म। अवभृथ। अभिचारसंज्ञक विवृतियाँ। द्वादशाहस्तुति। श्येनयाग-विधि। वैश्वदेव सत्र। अद्भुत-शान्ति। षड्विंश ब्राह्मणमें प्रतिपादित विषयोंकी यही सूची है।

सामविधान ब्राह्मणकी भाष्यभूमिकासे——

'अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः प्रौढं ब्राह्मणमादिमम्।
षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात्ततः सामविधिर्भवेत्॥
आर्षेयं देवताध्यायं मन्त्रं वोपनिषत्ततः।
संहितोपनिषद्वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः॥'

——सामवेदके आठ ब्राह्मणग्रन्थ हैं——१. ताण्ड्य महाब्राह्मण, २. षड्विंश ब्राह्मण, ३. सामविधान ब्राह्मण, ४. आर्षेय।

ब्राह्मण, ५. देवताध्याय ब्राह्मण, ६. मंत्र ब्राह्मण, ७. संहितोपनिषद् ब्राह्मण और ८. वंश ब्राह्मण ।

इनमेंसे ताण्डच और षड्विंश ब्राह्मणोंमें यज्ञाधिकारियोंको स्वर्गादि फलोंकी प्राप्ति करानेवाले एकाह और अहीनसत्रात्मक महाक्रतुओंका प्रतिपादन किया गया है । सामविधान ब्राह्मणमें उपर्युक्त यज्ञोंके अनधिकारियों, जैसे—अज, पृश्नि, वैखानस एवं कुछ अन्य लोगोंकी शुद्धिके लिए पहले कृच्छ्रादि प्रायश्चित्त बताये गये हैं—इन प्रायश्चित्तोंके द्वारा पाप-क्षय हो जानेके अनन्तर स्वर्गादि फलोंकी प्राप्तिके लिए सामोंका विधान किया गया है । ये साम अनेक प्रकारके अग्न्याधान और अग्निहोत्रादिके प्रत्याम्नाय रूप हैं । इन सामोंका विधान करनेके कारण ही इसे सामविधान ब्राह्मण कहा जाता है ।

आर्षेय ब्राह्मणकी भाष्यभूमिकासे—

'प्रौढादिब्राह्मणान्यादौ त्रीणि व्याख्याय, तुर्यकम् ।
आर्षेयं ब्राह्मणं चाद्य सायणो व्याचिकीर्षति ।।'

—पहले ताण्डच आदि तीन सामवेदी ब्राह्मणोंकी व्याख्या करके सायणाचार्य अब चौथे आर्षेय ब्राह्मणकी व्याख्या करना चाहते हैं ।

सर्वप्रथम ब्राह्मणके अर्थका संग्रहकर उसे प्रकट कर रहे हैं—**'अथ खल्वयमार्षः प्रदेशः भवति ।'** 'अथ' यहाँ आनन्तर्यके अर्थमें प्रयुक्त है । 'खलु' प्रसिद्धि-द्योतक है । 'अयम्' पद ब्राह्मणके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका संकेत करता है । 'आर्ष' अर्थात् ऋषि सम्बन्धी । 'प्रदेश' का आशय है उपदेश ।

किसने इसे कहा ? उत्तरमें 'ऋषीणाम् इत्यादि वाक्य है—ऋषियों अथवा उनके गोत्रोंमें उत्पन्न लोगोंने (कहा) । ऋषि नामक गोत्र, छन्द, देवता आदिके वाचक शब्दसे सामोंकी वाचकताका ज्ञान समझना चाहिये अर्थात् इस प्रकारके अर्थका प्रतिपादन प्रकृत ब्राह्मणके द्वारा किया गया है ।'

देवताध्याय ब्राह्मणकी भाष्यभूमिकासे—

तत्राद्या ब्राह्मणग्रन्थाश्चत्वारो व्याकृताः पुरा ।
देवताध्याय सञ्ज्ञस्तु ग्रन्थो व्याक्रियतेऽधुना ।।
साम्नाम् निधनभेदेन देवताध्ययनादयम् ।
ग्रन्थोऽपि नामतोऽन्वर्थो देवताध्यायमुच्यते ।।
तत्राद्ये बहुधा साम्नां देवताप्रीतिकीर्त्तनाम् ।
द्वितीये छन्दसां वर्णास्तेषामेव च देवताः ।।
तृतीये तन्निरुक्तेश्चेत्येवं खण्डार्थसङ्ग्रहः ।।'

—सामवेदके चार ब्राह्मणोंकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं; अब इस देवताध्याय नामक ब्राह्मणकी व्याख्या कर रहे हैं। इस ग्रंथमें सामोंके विशिष्ट भेदोंके साथ देवताओं का अध्ययन किया गया है, अतः इसके नामसे ग्रन्थकी विषय-वस्तु अन्वर्थक है। प्रारम्भमें देव-प्रीति ख्यापक सामोंका बहुविध वर्णन है। द्वितीय भागमें छन्दोंके वर्ण और देवताओं का विवेचन है। तीसरे खण्डमें निर्वचन प्रस्तुत किये गये हैं—यही आंशिक रूपसे इस ग्रन्थकी वर्ण्य-वस्तु है।'

'मन्त्र ब्राह्मण' पर सायणाचार्यकृत भाष्य आजतक भी प्राप्त नहीं हुआ[1]; इस कारण मैंने इस ब्राह्मणपर 'मंत्रसञ्जीवनी' नामक टीकाका प्रणयन किया है। उसकी भूमिकासे कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है—

'सामवेदके इस 'मंत्र ब्राह्मण' में दो प्रपाठक हैं। कौथुमशाखीयोंकी गृह्याग्निमें विहित कर्मोंमें उपयोगी सभी मंत्रोंकी यह मञ्जूषा ही है। आश्चर्यकी बात यह है कि इतने विशाल बंगाल प्रान्तमें मैंने ऐसे उपयोगी ग्रन्थकी एक भी प्रति नहीं देखी। अन्यत्र भी इसका प्रचार कम ही है। इसपर कोई विशुद्ध व्याख्या भी अबतक[2] नहीं छपी है। इन सब बातोंपर विचार करके हम इस पुस्तकके विपुल प्रचार-हेतु और समझनेमें सुविधाके लिए देववाणी संस्कृत और बंगला भाषा, दोनोंमें ही व्याख्या लिख रहे हैं। खेद है इस विषयमें हमने पहले भी कहा था, किन्तु तब लोगोंने कहा कि 'मंत्र ब्राह्मण गुणविष्णु भट्ट[3] आदिके मतका अनुसरण करनेवाले व्याख्यान से युक्त है।' यह भ्रान्त मत मुझे जलानेके लिए व्यक्त किया गया था। उस अनुतापकी निवृत्तिके लिए आज मैं यह दूसरी बार चेष्टा कर रहा हूँ।

सायणाचार्यके न्यायानुसार यह ब्राह्मण कौथुमशाखीय ब्राह्मणोंमें छठा है, जैसा कि उन्होंने ताण्ड्य ब्राह्मणकी भूमिकामें कहा है। हमारे मतसे तो प्रत्येक शाखाका एक-एक ब्राह्मण ही है, जैसे शाकलोंका ऐतरेय, वाजसनेयियोंका शतपथ और तैत्तिरीयोंका तैत्तिरीय ब्राह्मण—वैसे ही कौथुमशाखीयोंका भी केवल एक ही ब्राह्मण है—ताण्ड्य महाब्राह्मण इसमें ४० अध्याय हैं। षड्विंश ब्राह्मणमें इसीके पाँच अध्याय हैं—वह कोई पृथक् ब्राह्मण नहीं है। कौथुमशाखीय ब्राह्मणका तीस अध्यायोंवाला प्रारम्भिक अंश, जिसमें श्रौत कर्मोंका विधान है, प्रौढ़रूपमें प्रसिद्ध है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। अद्भुत ब्राह्मण नामक षड्विंशका छठा अध्याय बृहदारण्यक के सातवें-आठवें अध्यायोंके समान खिल

---

१. अब यह प्राप्त हो गया है। प्रो० दुर्गामोहन भट्टाचार्यने कलकत्तेसे सायण-भाष्य सहित प्रकाशित किया है।—अनुवादक

२. अब यह बात नहीं है।—अनु०

३. यह भाष्य भी प्रो० भट्टाचार्यके संस्करणमें है।—अनु०

भाग है। इसीलिए सायणाचार्यकृत 'षड्विंश' ब्राह्मणकी भाष्य-भूमिकाकी बहुतसी पाण्डुलिपियोंमें छठे अध्यायका उल्लेख नहीं दिखायी देता है। और जो यह कहा जाता है—**'षष्ठत्वेन मन्त्रं वोपनिषदिति'**—वह सामग-प्रसिद्धिके विरुद्ध है। कोई भी सामवेदी मन्त्रका व्यवहार उपनिषद्के रूपमें नहीं करता और न उपनिषद्का मंत्र रूपमें। वास्तवमें मन्त्र और उपनिषद्के मिश्रणसे एक ही कौथुम ब्राह्मणका दूसरा भाग बन गया; प्रारम्भके दो अध्याय मंत्रमय हैं और तीसरे अध्यायसे आठवें तक उपनिषद् है—यही सामवेदियोंके मध्य प्रसिद्ध है। उस ब्राह्मणके अन्तिम भागमें दस अध्याय हैं, जिनमें गृह्यमन्त्र और उपनिषद् हैं। इन्हीं श्रौत और गृह्य अध्यायोंके सम्मिलित सङ्कलनसे ४० अध्यायोंवाला ताण्डच महाब्राह्मण सम्पन्न हुआ। ऐतरेयब्राह्मणके आरम्भिक अंशमें श्रौतविधियाँ दिखायी देती हैं; दूसरा अंश अन्य प्रकारका है। इसी प्रकारसे तैत्तिरीय ब्राह्मणका आद्यांश भी श्रौतविधियोंसे पूर्ण है, दूसरे भागमें उपनिषद् और गृह्यमंत्र हैं। अथर्ववेदका ब्राह्मण भी इसी प्रकारका होना चाहिये। हमारी मान्यता है कि गोपथ ब्राह्मण अपूर्ण रूपसे मुद्रित है। ताण्डच महाब्राह्मणका यह नाम इसलिए पड़ा कि ताण्डि नामक एक महर्षिने इसका प्रकाशन किया। सामवेदियोंको 'छन्दोग' भी कहा गया है। इसीलिए इसका 'छान्दोग्य ब्राह्मण' नाम सार्थक ही है। यह प्रबन्ध ताण्डच महाब्राह्मणके ही दो अध्यायोंसे बने 'मंत्र ब्राह्मण' को सञ्जीवित करनेके लिए लिखा गया है।

जब प्रत्येक शाखाका एक-एक ब्राह्मण ही है, फिर 'सामविधान' आदि ब्राह्मणोंकी क्या स्थिति है? हमारा कथन है कि ये अनुब्राह्मण हैं। पाणिनिके **'अनुब्राह्मणादिनिः[१]'** सूत्रकी सार्थकता भी तभी है—ये ही उसके उदाहरण हैं, अन्यथा यह सूत्र भी वैसे ही व्यर्थ हो जायेगा, जैसे शिरके अभावमें शिरोपीडा बेमानी है। 'अनुब्राह्मण' ग्रन्थ कहीं दिखता नहीं। निदानसूत्र आदिमें भी 'अनुब्राह्मण' शब्दका प्रयोग इसी अभिप्रायसे किया गया है—इसी दृष्टिसे आर्षेयमें यह ब्राह्मण-वचन उद्धृत है—**'अथापि ब्राह्मणं भवति।'**

:o: :o: :o:

वैदिक छन्दो-चक्र

(क)

७ छन्द		७ अतिच्छन्द		७विच्छन्द	
१. गायत्री	२४	अतिजगती	५२	कृति	८०
२. उष्णिक्	२८	शक्वरी	५६	प्रकृति	८४
३. अनुष्टुप्	३२	अतिशक्वरी	६०	आकृति	८८
४. बृहती	३६	अष्टि	६४	विकृति	९२
५. पंक्ति	४०	अत्यष्टि	६८	सङ्कृति	९६
६. त्रिष्टुप्	४४	धृति	७२	अतिकृति	१००

(ख)

छन्द	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती
आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
दैवी	१	२	३	४	५	६	७
यासुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
आर्च्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
ब्राह्मी	३६	४८	४८	५४	६०	६६	७२

(ग)

छन्द	विराट्	निचृत्	शुद्धा	भूरिक्	स्वराट्
गायत्री	२२	२३	२४	२५	२६
उष्णिक्	२६	२७	२८	२९	३०
अनुष्टुप्	३०	३१	३२	३३	३४
बृहती	३४	३५	३६	३७	३८
पंक्ति	३८	३९	४०	४१	४२
त्रिष्टुप्	४२	४३	४४	४५	४६
जगती	४६	४७	४८	४९	५०

छन्दोंके ही समान अतिच्छन्दों और विच्छन्दोंके भी भेद-प्रभेद होते हैं; उन्हें बना लेना चाहिये। शंका यह है कि २६ अक्षरोंवाली ऋचाको स्वराड् गायत्री छन्द माना जाये या विराड् उष्णिक् ? इसका समाधान करनेके लिए पिङ्गलाचार्यका कथन है—'**आदितः सन्दिग्धे**'[1] अर्थात् जहाँ सन्देह हो, वहाँ मन्त्रके प्रथम पादको देखकर ही छन्दका निश्चय करना चाहिये। इस व्यवस्थाके अनुसार यदि प्रथम पाद गायत्रीका है, तो उस मंत्रमें स्वराड् गायत्री छन्द है, और यदि प्रथम पादमें उष्णिक् है तो उस मंत्रमें विराड् उष्णिक् छन्द मानना ही उचित है। यही नियम सर्वत्र समझना चाहिए।

---

१. छन्दः सत्र ३.६१।

(घ)

१. गायत्री छन्द

अक्षर	छन्द-प्रभेद
८–८–८ = २४	त्रिपाद् गायत्री
६–६–६–६ = २४	चतुष्पाद् गायत्री
७–७–७ = २१	पादनिचृत् गायत्री
६–८–७ = २१	अतिपादनिचृत् गायत्री
९–९–६ = २४	नागी गायत्री
६–९–९ = २४	वाराही गायत्री
६–७–८ = २१	वर्द्धमाना गायत्री
८–७–६ = २१	प्रतिष्ठा गायत्री
६–६–७ = १९	हसीयसी गायत्री
१२–८ = २०	द्विपाद्विराट् गायत्री
११–११–११ = ३३	विराट् गायत्री
६–७–११ = २४	उष्णिक्गर्भा गायत्री
७–६–७ = २०	अतिनिचृत् गायत्री
५–५–५–५ = २०	पदपंक्ति गायत्री
५–५–५–५–६ = २६	
५–५–५–४ = १९	
७–१०–७ = २४	यवमध्या गायत्री
८–४–८ = २०	पीपीलिकमध्या गायत्री
५–६–६–६ = २३	शंकुमती गायत्री
६–८–८ = २२	ककुद्मती गायत्री

(ङ)

२. उष्णिक् छन्द

८–१२–८ = २८	ककुप् उष्णिक्
१२–८–८ = २८	पुर उष्णिक्
८–८–१२ = २८	पर उष्णिक्
७–७–७–७ = २८	चतुष्पाद् उष्णिक्
११–१२–४ = २७	न्यंकुशिरा उष्णिक्
११–११–६ = २८	तनुमध्या उष्णिक्
५–८–८–८ = २९	अनुष्टुप्गर्भा उष्णिक्
८–५–८–८ = २९	पिपीलिकमध्या उष्णिक्
८–८–५–८ = २९	

(च)

३. अनुष्टुप् छन्द

८–८–८–८ = ३२	चतुष्पादनुष्टुप्
१२–१२–८ = ३२	कृति अनुष्टुप्
८–१२–१२ = ३२	त्रिपात् अनुष्टुप्
१२–८–१२ = ३२	पिपीलिकमध्या अनुष्टुप्
५–५–५–५–५–६ = ३१	महापदपंक्ति अनुष्टुप्
९–१२–९ = ३०	कविराट् अनुष्टुप्
९–१०–१३ = ३२	नष्टा अनुष्टुप्
१०–१०–१० = ३०	विराड् अनुष्टुप्
१०–१०–११ = ३१	विराड् अनुष्टुप्

(छ)

४. बृहती छन्द

८–८–१२–८ = ३६	पथ्याबृहती
८–१२–८–८ = ३६	न्यंकुसारिणी बृहती स्कन्धोग्रीवी बृहती उरोबृहती
८–८–८–१२ = ३६	उपरिष्टाद् बृहती
१२–८–८–८ = ३६	पुरस्ताद् बृहती
९–९–९–९ = ३६	चतुष्पाद् बृहती
१०–१०–८–८ = ३६	चतुष्पाद् बृहती
१२–१२–१२ = ३६	ऊर्द्ध्व बृहती महा बृहती सतो बृहती
८–१०–१०–८ = ३६	विस्टार बृहती
१३–८–१३ = ३४	पिपीलिकमध्या बृहती
९–८–११–८ = ३६	विषमपदा बृहती

(ज)

५. पंक्ति छन्द

१२–८–१२–८ = ४०	सतो पंक्ति
८–१२–८–१२ = ४०	विपरीता पंक्ति
८–८–१२–१२ = ४०	आस्तार पंक्ति
१२–१२–८–८ = ४०	प्रस्तार पंक्ति
८–१२–१२–८ = ४०	संस्तार पंक्ति
५–५–५–५ – २०	

कात्यायनके मतानुसार यही अक्षर पंक्ति पदपंक्ति गायत्री है; हलायुधके मतसे केवल १० अक्षर (५–५ = १०) होते हैं।

५–५–५–५–५–५–५–५ = ४०	अल्पशः पङ्क्ति
५–५–५–५–५ = २५	पद पङ्क्ति
४–६–५–५–५ = २५	
८–८–८–८–८ = ४०	पथ्या पङ्क्ति
१०–१०–१०–१० = ४०	चतुष्पदी पङ्क्ति

(झ)

६. त्रिष्टुप् छन्द

११–८–८–८–८ = ४३	पुरोज्योतिः त्रिष्टुप्
८–८–११–८–८ – ४३	मध्येज्योतिः त्रिष्टुप्
८–८–८–८–११ = ४३	उपरिष्टाज्ज्योतिः पंक्ति
११–११–११–११ = ४४	चतुष्पाद् पंक्ति
१२–१२–११–११ = ४६	जागत सूक्तमें जगती; त्रैष्टुभ् सूक्तमें त्रिष्टुप्
११–११–१२–१२ = ४६	
१२–११–१२–११ = ४६	
११–१२–११–१२ = ४६	
१०–१०–१२–१२ = ४४	अभिसारिणी त्रिष्टुप्
९–९–१०–११ = ३९	विराट्स्थाना त्रिष्टुप्
१०–१०–९–११ = ४०	विराट्स्थाना त्रिष्टुप्
११–११–११–८ = ४१	विराड्रूपा त्रिष्टुप्
१२–१२–१२–८ = ४४	ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्
८–८–८–८–१२ = ४४	महाबृहती त्रिष्टुप्

पिंगलकी दृष्टिमें यह महाबृहती ही उपरिष्टाज्ज्योति है।

८–८–१२–८–८ = ४४	यवमध्या त्रिष्टुप्
८–१०–१०–८–८ = ४४	पंक्त्युत्तरा और विराट्पूर्वा त्रिष्टुप्

(ञ)

७. जगती छन्द

८–८–८–८–८–८ = ४८	षट्पदी जगती
१२–१२–१२–१२ = ४८	चतुष्पाद् जगती
१२–८–८–८–८ = ४४	पुरोज्योतिः जगती
८–८–१२–८–८ = ४४	मध्ये ज्योतिः जगती
८–८–८–८–१२ = ४४	उपरिष्टाज्ज्योतिः जगती
८–८–८–१२–१२ = ४८	महासतो बृहती जगती

हलायुध भट्टने षट्पदी जगतीको ही पङ्क्तिके रूपमें रखा है।

:०: :०: :०:

मुझे पता नहीं कि यह व्याख्यान शुद्ध है या अशुद्ध ? वेदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म है और मैं स्थूल बुद्धिवाला पुरुष। निरुक्तके १३वें अध्यायमें कहा भी गया है—

'सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः,
तस्यास्तपसा पारमीक्षितव्यम् ।'

—यह विद्या श्रुति, मति और बुद्धिस्वरूपा है। इसका पार तपस्याके द्वारा ही पाया जा सकता है।

:०: :०: :०:

मेरी विनम्रतापूर्वक याचना है कि सज्जन मेरे अवलम्ब बनें—**'सन्तः सन्त्ववलम्बनम् ।'** मैं कुमारिल भट्टके इन वचनोंको स्मरण करता हूँ—

'आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ।'

—मैं आगमप्रवण हूँ; स्खलित होने पर भी कलङ्कका पात्र नहीं हूँ, क्योंकि श्रेष्ठ और प्रशस्त पन्थ पर चलनेवाला व्यक्ति लड़खड़ानेवालोंमें भी कलङ्कका भागीदार नहीं समझा जाता।

'संहितोपनिषद् ब्राह्मण' की व्याख्या आज भी प्रचारित नहीं है। 'वंश ब्राह्मण'—भाष्यकी यह सायण-कृत अवतरणिका है—

'प्रौढादिब्राह्मणान्यादौ सप्त व्याख्याय चान्तिमम् ।
वंशाख्यं ब्राह्मणं विद्वान् सायणो व्याचिकीर्षति ।।'

—ताण्डचादि सात ब्राह्मणोंकी व्याख्या करनेके अनन्तर अब मनीषी सायणाचार्य 'वंश ब्राह्मण'की व्याख्या करना चाहते हैं।

इस वंश ब्राह्मणमें समग्र सामवेदियोंकी प्रवृत्ति उत्पन्न करनेके लिए सम्प्रदाय प्रवर्तक ऋषियोंका प्रदर्शन किया गया है।'

सायणकृत अथर्वसंहिता-भाष्यसे—

अथर्ववेदसे लौकिक और अलौकिक सभी पुरुषार्थोंका परिज्ञान होता है। इसके नौ भेद[1] हैं—१. पैप्पलाद, २. तौद, ३. मौद, ४. शौनकीया, ५. जाजल, ६. जलद, ७. ब्रह्मवत्, ८. देवदर्श और ९. चारणवैद्य।

---

१. शाखाएँ—अन०

शौनकीया आदि चार शाखाओंमें आये अनुवाकों, सूक्तों और ऋचाओंका गोपथ-ब्राह्मणके अनुसार ५ सूत्र-ग्रन्थोंमें विनियोगविधान हुआ है—१. कौशिक सूत्र, २. वैतान सूत्र, ३. नक्षत्रकल्प, ४. आङ्गिरसकल्प और ५. शान्तिकल्पसूत्र।

उपवर्षाचार्यने 'कल्पसूत्राधिकरण' में इन्हें यों गिनाया है—

'नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः।
तुर्य आङ्गिरसःकल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः॥'

'संहिता-विधि' नामक कौशिक सूत्रमें संहिताओंमें आये मंत्रोंका विनियोग विभिन्न शान्ति और पुष्टि-कर्मोंमें बताया गया है। दूसरे सूत्रोंका उपजीव्य होनेके कारण यही मुख्य सूत्र है। इन अनेक सूत्रोंमें अथर्ववेदके प्रतिपाद्य विषय बिखरे पड़े हैं और दुर्बोध हैं—उन्हें सरलतासे समझनेके लिये यहाँ उनका संग्रह किया जा रहा है। कौशिक सूत्रमें प्रतिपादित विषय क्रमशः इस प्रकारसे हैं—सर्वप्रथम स्थालीपाक-विधानके द्वारा दर्श और पूर्णमासकी विधियाँ बतायी गयी हैं। उसके बाद मेधाजनन। ब्रह्मचारि-सम्पदा। ग्राम, नगर, दुर्ग और राष्ट्र आदिकी प्राप्तिके उपाय। पुत्र, पशु, धन-धान्य, सन्तान, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ, आन्दोलिका आदि सभी सम्पत्तियाँ प्राप्त करनेके उपाय। लोगोंमें ऐक्य-सम्पादन हेतु साम्मनस्य। राजकर्म—शत्रुओं और हाथियोंके त्रासन, संग्राममें विजय प्राप्त करनेके साधन; बाण-निवारणके उपाय, खड्ग आदि सभी शस्त्रोंके निवारक उपाय; शत्रु-सेनाको सम्मोहित, उद्विग्न और उच्चाटित करनेके उपाय; अपनी सेनाको उत्साही, परिरक्षित और निर्भय करनेके उपाय; संग्राममें हार-जीत परखनेके उपाय; सेनापति आदि प्रमुख पुरुषोंको जीतनेके उपाय; शत्रु-सेनाके ठहरनेके स्थानों पर अभिमन्त्रित पाश, असि और कश (चाबुक) आदि फेंकनेके उपाय; विजयाभिलाषी राजाके रथारोहणकी विधि; अभिमंत्रित भेरी, नगाड़ा आदि सभी वाद्यों पर आघात करनेकी विधियाँ; शत्रुको नष्ट करनेके कर्म, शत्रुके द्वारा उखाड़ फेंके गये राजाका पुनः अपने राष्ट्रमें प्रवेश और अभिषेक। पाप-क्षयके निमित्त निर्ऋतिकर्म, चित्राकर्म, पौष्टिक कर्म; पशु-समृद्धिके कर्म; धन-प्राप्ति करानेवाले कर्म; पुष्टि-हेतु मणि-बन्धन; कृषिको पुष्ट करनेवाले कर्म; बैलोंको समृद्ध करनेवाले कर्म; नवशाला कर्म; वृषोत्सर्ग और आग्रहायणी कर्म। दूसरे जन्मोंमें किये गये पापोंके कारण चिकित्साके द्वारा असाध्य विभिन्न रोगोंका भैषज्य (इलाज)—सर्वप्रथन सभी व्याधियोंका सामान्य भैषज्य; जीर्ण अतिसार (क्रॉनिक डायरिया) और बहुमूत्र रोगोंका इलाज; शस्त्रादिके आघातके कारण बहते हुए रक्तको रोकनेके उपाय; भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार (मिरगी), ब्रह्मराक्षस और बाल-ग्रह आदिका निवारण करनेके उपाय; वात, पित्त और कफजन्य रोगोंकी चिकित्सा, हृदयरोग, कामिला (Jaundice) और श्वित्र (सफेद दाग) निवारणके

उपाय; निरन्तर बने रहनेवाले ज्वर, एकाहिका आदि विषम ज्वर, राजयक्ष्मा (टी० बी०), जलोदर आदिकी चिकित्सा; गायों और घोड़ोंमें पाये जानेवाले कृमियोंको दूर करनेकी विधि; कन्दमूल, सर्प, बिच्छू आदि स्थावर-जंगम आदि विषोंके निरोधके उपाय; शिर, आँख, नाक, कान, जिह्वा, ग्रीवा आदिके रोगोंकी चिकित्सा; ब्राह्मणादिके आक्रोशका निवारण; गण्डमाला आदि विविध रोगोंकी चिकित्सा। पुत्रादि-कामनासे स्त्रीके कर्म-सुखसे प्रसव करनेके उपाय; गर्भाधान, गर्भको दृढ़ करनेके पुंसवन आदि कर्म; सौभाग्य-करण। राजा आदिके क्रोध-निवारणके उपाय। अभीष्ट सिद्ध होगा अथवा नहीं—यह जाननेके उपाय; दुर्दिनके समय अतिवृष्टि रोकनेके उपाय; सभामें विजय प्राप्त करने और कलङ्कका शमन करनेके उपाय; स्वेच्छासे नदीको प्रवाहित करनेके उपाय; वृष्टि कर्म; अर्थोत्थापन कर्म; जुएमें जीतनेके उपाय; गोवत्स-बिरोधका निवारण; अश्व-शान्ति; व्यापारमें लाभान्वित होनेके उपाय; स्त्रीके पापलक्षण हटानेके उपाय; वास्तु-संस्कार कर्म; गृह-प्रवेश कर्म; कबूतरों और कौओंके द्वारा व्याघातित घरको शान्त रखनेके उपाय; दुष्प्रतिग्रह तथा अयाज्य-याजनजन्य दोषोंका निवारण; दुस्वप्न-निवारण; बालकके दुष्ट नक्षत्रमें जन्म लेनेके कारण लगे दोषकी शान्ति; ऋण चुकानेके उपाय; अशकुनकी शान्ति; अभिचार-कार्य; दूसरेके द्वारा किये गये अभिचारोंका निवारण। स्वस्त्ययन, आयुष्य, जातकर्म, नामकरण, चूडाकरण और उपनयन आदि। एकाग्नि साध्य काम्य याग; स्वर्गोदन, ब्रह्मौदन आदि २२ सवयज्ञ। क्रव्य-शमन; आवसथ्याधान—गृह्याग्निकी स्थापना। विवाह। पितृमेधजन्य कर्म, पिण्डपितृयज्ञ, मधुपर्क। पांसु, रुधिर आदिकी वर्षा, यक्ष-राक्षसोंका दर्शन, भूकम्प, धूमकेतु, चन्द्रमा, सूर्य आदिके उपप्लव तथा अन्य अनेक प्रकारके उपद्रवोंकी शान्तिके उपाय। आज्यतन्त्रविधि, अष्टकाकर्म, इन्द्रमह, अध्ययनविधि।

वैतानसूत्रमें दर्शपूर्णमास आदि यज्ञोंके अयनान्तमें सम्पन्न होनेवाले अनुष्ठानोंमें ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता—इन चार ऋत्विकोंके कर्तव्योंका प्रतिपादन हुआ है। ब्रह्माके कर्म हैं—अनुज्ञा, अनुमन्त्रण आदि। ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्रादि; आग्नीध्रके अन्वाहार्य, श्रपण, प्रस्थित, याज्या आदि; पोताके प्रस्थित याज्या आदि।

कर्मका क्रम यह है—पहले दर्श और पूर्ण मास। फिर अग्निका आधान। अग्नि-होत्र। आग्रयणा इष्टि। चातुर्मास्य, वैश्यदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय आदि। पशुयाग। अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र—ये चार प्रकृतिभूत संस्थाएँ हैं सोमयागकी। वाजपेय। आप्तोर्याम। अग्निचयन। सौत्रामणी। मैत्रा-वरुण आमिक्षा इष्टि। गवामयन। राजसूय। अश्वमेध। पुरुषमेध। सर्वमेध। बृहस्पतिसव और गोसव आदि एक दिनमें सम्पन्न होनेवाले सोमयाग। व्युष्टि और द्विरात्र आदि अहीन प्रकृतियाँ। रात्रिसत्र। सांवत्सरिक अयन। दर्श और पूर्णमासके अयन।

उसकी शान्तिके लिए सामग्रीका आहरण अभिषेक वैनायक होम, उसकी पूजाका विधान, आदित्यादि नवग्रह-यज्ञ बताये गये हैं।

अथर्वपरिशिष्टमें प्रतिपादित राज्याभिषेककी दृष्टिसे उपयुक्त अनुष्ठान-विधियाँ—

इन कल्पोंमें कुछ विषयोंका वर्णन नहीं है, जैसे राजाभिषेकके लिए उपयुक्त द्रव्य-प्रकृति, द्रव्यपरिग्रह, पुरोहित-वरण आदि। इनका प्रतिपादन अथर्वपरिशिष्टमें हुआ है। यहाँ इनकी सूची दी जा रही है—सर्वप्रथम राजाभिषेक; पुरोहितके वे कर्म, जिनमें बहुत सबेरे विशिष्ट मंत्रोंसे अभिमन्त्रित वस्त्र, गन्ध, आभूषण, सिंहासन, अश्व, गज, आन्दोलिका, खड्ग, ध्वज, छत्र और चँवर आदि वस्तुएँ राजाको दी जाती हैं; स्वर्ण, गाय, तिल, भूमि आदि दान करना राजाका नित्य कर्त्तव्य है; पुरोहितको ये रात्रिकर्म हैं—दीपके साथ पूजित पिष्टमयी रात्रि-प्रतिमाके द्वारा राजाकी आरती, रक्षाकरण आदि; राजाका पुष्पाभिषेक; रात्रिमें राजाकी आरतीका विधान; बहुत सबेरे घृतदर्शन; कपिल गो-दान; तिल और गो-दान; रसादि, धेनु, कृष्णाजिन और भूमि-दान; तुला-पुरुषका विधान; सूर्य-मण्डलके आकारवाले पुएका दान; हिरण्यगर्भ-विधि; हाथी और रथका दान; स्वर्ण और अश्व आदि दस महादान; अश्व-रथका दान; गोसहस्रविधि; वृषोत्सर्ग; कोटिहोम; लक्षहोम; अयुतहोम; घृतकम्बलविधि; जलाशयप्रतिष्ठा; पाशुपत व्रत एवं अन्य दानों तथा व्रतोंका वर्णन परिशिष्टमें हुआ है।

इस प्रकारसे सपरिशिष्ट पाँचों कल्प सूत्रोंमें प्रतिपादित कर्मोंकी सूची ऊपर दिग्दर्शन-मात्रके लिए दे दी गयी।.....कर्म तीन प्रकारके हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जातकर्म आदि नित्य कर्म हैं; दुर्दिन और वज्र आदिका निवारण तथा अश्वशान्ति और अन्य अद्भुत कर्म नैमित्तिक कर्मोंकी कोटिमें आते हैं; मेधाजनन, ग्राम्यसाम्पद आदि काम्य कर्म हैं। इनमेंसे नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। स्मृतियोंमें बताया गया है कि इनके न करनेसे पाप लगता है —**'नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवाय जिघांसया।'**

—पाप नष्ट करनेकी इच्छासे नित्य और नैमित्तिक कर्म अवश्य करना चाहिये। काम्यकर्मोंमें इच्छानुसार प्रवृत्त हुआ जा सकता है।...

'वेदत्रयी परिचय' में उद्धृत प्रमुख ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंकी सूची

नाम और पृष्ठ संख्या

अथर्ववेद संहिता १
अर्थसंग्रह ४६
अधिकरणमाला १, २४
अथर्वा, ऋषि १६
आपस्तम्ब, ऋषि ३, ४, २६
ईश्वरकृष्ण, आचार्य ८
उव्वट १०, ३०, ३१, ५१
ऋग्वेद संहिता १
ऋक्प्रातिशाख्य २, १६, २४
ऐतरेय ब्राह्मण ५, ७, ४२, ४६, ६३
ऐतरेय आरण्यक ७५
कात्यायन, ऋषि ११, १२, १४, १६, ५१
कुमारिल भट्ट, आचार्य १८
कृष्णयज्वा ४६
कृष्ण यजुर्वेद भाष्य-भूमिका २
कौशिक सूत्र १०, २६, २७
कौषीतकि ब्राह्मण ३७
गोपथ ब्राह्मण ५, २१, ४६
चरणव्यूह ३३, ३४, ३५
छान्दोग्य ब्राह्मण ५, ७, २१, २३, २५
जैमिनि, ऋषि १, २६, ३०
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर १, २३
ताण्ड्य महाब्राह्मण ३०, ४३, ६४, ६४
तैत्तिरीय संहिता ३, १५, २३, ५१
तैत्तिरीय ब्राह्मण ५, ६, २३
तैत्तिरीय आरण्यक १४, १७, २३, ४७, ६७
दुर्गाचार्य १०, १४, १६, २६
नागेश ६, ११, १७, २६
नाट्यसूत्र ११, १२, १७
नामलिङ्गानुशासन ६
निरुक्त ५, १०, १८, २४, २६, ३२
निरुक्तालोचन २६
पतञ्जलि १७, १८, ३३, ५६, ६०
पाणिनीयाष्टाध्यायी ४, ११, १४, १६, २६, ३५
पाश्चात्य विद्वान् (कुछ) २१, ३६, ४०
पिंगलाचार्य १६
पिंगलसूत्र १६
पैङ्गी १२
बृहदारण्यक २२
भरद्वाज, ऋषि ६
भट्टोजिदीक्षित, आचार्य ६, ५६
भागवत महापुराण ६, १८
भिक्षुसूत्र १७
मनुस्मृति ७, ८, १७, १८, २२, २५, ३५, ५५
महीधर पण्डित, भाष्यकार ४, १६
महाभारत ६, २२, २५
मंत्र ब्राह्मण २४
महिदास, टीकाकार ३४
माधवाचार्य १, २३

मीमांसा सूत्र १०, २६, ४५, ४६
मीमांसा परिभाषा ४६
मीमांसा वृत्ति ४६
मैत्रायणी शाखा २८
यजुर्वेद संहिता १, २७, ३०
यज्ञपरिभाषा ३, ७, २६, ४५
यास्क ५, ६, १२, २४, २६
वाचस्पति मिश्र ८
वाजसनेयि प्रातिशाख्य १०, ७, १६
वाल्मीकि रामायण ६
विश्वनाथ १६
विष्णुपुराण ३४
विकृति कॉमुदी ३४
विकृतिवल्ली ३२, ३४
विष्णुमित्र २, २४
व्याकरण महाभाष्य १६, १७, ६६, ४४
व्याडि, आचार्य ३४
रघुनन्दन ६
लघुशब्देन्दुशेखर ६, ११, १७
लौगाक्षिभास्कर ४६
शतपथ ब्राह्मण १, २४, २५, ४८
शवरस्वामी २६, ५०
शाकल्य, आचार्य ३४
शालिकनाथीयप्रकरणपञ्चिका ४६
शिलालि, ऋषि ११
शौनक २६, ४०
शौनकीय शिक्षा १६
शौनकीयानुक्रमणी ३४
श्लोकवार्तिक १८
श्रीधर स्वामी १६
श्वेताश्वतर उपनिषद् ३१
षड्गुरुशिष्य, आचार्य ३, ३२, ३४
सर्वानुक्रमणी वृत्ति ३, २५, २७
सामवेद संहिता १, १४
सायणाचार्य २, ४, २१, २६, ३१, ३५
४७, ५०
सांख्यकारिका ८, १८
सांख्यायन गृह्यसूत्र ५१
सूर्य सिद्धान्त ११